पण्डितों ने उसको 'एपिक विदिन एपिक' (महाकाव्य के भीतर महाकाव्य) कहकर सम्बोधित किया है। यदि संस्कृत के उन ग्रंथों को अलग किया जाए, जो 'महाभारत' अपने मूल रूप में उत्तरवर्ती संस्कृत-साहित्य का एक ऐसा ग्रन्थराट् है, जिसके छोटे-छोटे हिस्से कालिदास, भारवि, भवभूति, बाण, प्रभ ति ग्रन्थकारों की कृतियों में देखने को मिल सकते हैं।

आध्यात्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक और ऐतिहासिक सभी विषयों के बीज 'महाभारत' में बिखरे हैं। यही कारण है कि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने गौरव के साथ 'महाभारत' की महत्ता को इन शब्दों मे व्यक्त किया है कि 'इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र भी है किन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह कभी कहीं भी नहीं है।' 'महाभारत' की श्रेष्ठता का एक प्रसंग दूसरा है, जिसका आशय है कि जैसे दही में नवनीत, मनुष्यों में ब्राह्मण, वैदिक साहित्य में आरण्यक, औषधियों में अम त, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पादों में गौ श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार समस्त इतिहासों में यह 'भारत' श्रेष्ठ है।

संस्कृत का काव्य, महाकाव्य, नाटक और चंपू प्रभ ति अनेक विषयों की कृतियों को 'महाभारत' के कथानक ने प्रभावित किया है। लगभग भास से लेकर तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान अगस्त्य कवि की कृतियों तक सर्वत्र 'महाभारत' का दाय लिया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थकारों की कृतियों के नाम यहाँ प्रस्तुत हैः

भास	पंचरात्र	क्षेमीश्र्वर	नैषधानन्द
"	दूतवाक्य	त्रिविक्रमभट्ट	नलचंपू
"	मध्यम व्यायोग	क्षेमेन्द्र	भारतमंजरी
"	दुतघटोत्कच	कांचन पण्डित	धनंजयव्यायोग
भास	कर्णधार	वत्सराज	किरातार्जुनीय- व्यायोग
"	ऊरुभंग		
कालिदास	अभिज्ञानशाकुन्तल	श्री हर्ष	नैषधचरित
भारवि	किरातार्जुनीय	रामचंद्र	नलविलास,
भट्ट नारायण	वेणीसंहार	"	निर्भयभीम
माघ	शिशुपालवध	अमरचंद	बालभारत
कुलशेखर वर्मन्	सुभद्रा-धनंजय	देवप्रभ सूरि	पांडवचरित
नीतिवर्मन्	कीचकवध	कृष्णानन्द	सहृदयानन्द
राजशेखर	बालभारत	अगस्त्य	बालभारत

महाभारत का सांस्कृतिक महत्त्व -

भारतीय परम्परा में महाभारत को एक सांस्कृतिक महाकाव्य ओर धर्मशास्त्र के साथ साथ उसे एक पवित्र ग्रन्थ भी माना जाता है। लगभग दो हजार वर्षों से महाभारत वर्तमान शतसाहस्त्री संहिता के रूप में प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। पाँचवी शताब्दी के दानपत्रों में महाभारत की इस प्रतिष्ठा के प्रमाण मिलते हैं। ईसा की पहली शताब्दी मे मध्य में दक्षिण आने वाले डायोनक्राईसोस्टोम नामक यात्री ने लिखा है कि उस समय में एक लाख श्लोकों का महाभारत (जिसे उसने भारत का इलियड कहा है) प्रसिद्ध एवं प्रचलित था। इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं कि महाभारत की कथा मन्दिरों में गाई जाती थी और जनसमूह उसे श्रद्धा से सुनता था। भारतवर्ष में ही नहीं वरन् पूर्व एशिया के उन देशों में भी महाभारत का प्रचार था, जिनमें भारतीय संस्कृति का विस्तार हुआ था। ईसा की पूर्व शताब्दियों में भी महाभारत के नाम का उल्लेख मिलता है। किन्तु आधुनिक विद्वान् इसे महाभारत

की शतसाहस्त्री संहिता का प्रमाण नहीं मानते। उनका सिद्धान्त विकासवादी है। उनके मतानुसार महाभारत के वर्तमान रूप का विकास कई चरणों में हुआ है। कई संस्करणों और अनेक प्रक्षेपों के द्वारा महाभारत को शतसाहस्त्री संहिता का रूप निर्धारित हुआ है। पश्चिमी विद्वानों का ध्यान महाभारत की सामग्री और रचना काल के ऐतिहासकि और वैज्ञानिक विवेचन की ओर रहा है। वे भारतीयों की भाँति महाभारत को श्रद्धा का विषय नहीं मानते। उनके लिए वह ऐतिहासिक आलोचना का विषय है। उस ऐतिहासिक आलोचना के प्रसंग में वे उन बातों को कोई महत्त्व नहीं देते, जो भारतीय द ष्टिकोण के अनुसार महत्त्वपूर्ण हैं। महर्षि वेदव्यास की कृति तथा प्राचीन भारतीय वीरों की कथा होने के कारण भारतीय जनता की महाभारत के प्रति गहरी श्रद्धा रही है। जनमेय और शौनक के यज्ञों में उनका पारायण होने के कारण वह एक धार्मिक कथा बन गई है। धर्मशास्त्र के समान धर्म के विस्त त विवरणों तथा भगवान् श्रीकृष्ण के नेत त्व के कारण महाभारत का धार्मिक रूप ही प्रमुख बन गया है। इसी कारण भारतीय जनता युगों से श्रद्धा के साथ महाभारत का श्रवण और गायन करती रही है।

श्रद्धा और भावना से रहित होने के कारण महाभारत के प्रति पश्चिमी विद्वानों का द ष्टिकोण केवल ऐतिहासिक है। वे एक निष्पक्ष और तटस्थ द ष्टिकोण से महाभारत आदि भारतीय ग्रन्थों के अध्ययन का दावा तो करते हैं किन्तु उनकी आलोचनाओं में भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्रति एक तिरस्कार का भाव दिखाई देता है, जो अत्यन्त शोचनीय है।

वस्तुतः महाभारत की मूल कथा ही इतनी विशाल है कि उसकी विविध घटनाओं के प्रसंग में जीवन के अनेक पक्ष अनायास खुल जाते हैं। इन प्रसंगों के बीच में मिलने वाले उपाख्यान विषय के विस्तार को और बढ़ा देते हैं। इस प्रकार महाभारत भारतीय संस्कृति का एक विशाल विश्वकोष है। महाभारत की विशालता के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि जो महाभारत में नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। स्वयं महाभारत में उसकी व्यापकता का निर्देश किया गया है कि जो यहाँ है वही अन्यत्र मिलेगा, जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा।

महाभारत के विषयों की यह व्यापकता उसके आकार की विशालता को सार्थक बनाती है। भारतीय जनता के लिए जो भी ज्ञान, शिक्षा आदि अपेक्षित है, वह सब महाभारत में मिल जाती है। महाभारत की विशाल कथा की घटनायें और अन्य उपाख्यान भी अनेक शिक्षाओं के स्त्रोत हैं। विद्वानों के लिए जो वेद का स्थान है, वही साधारण जनों के लिए महाभारत का है। वेद विद्वानों के लिए ज्ञान का भण्डार है, उसी प्रकार महाभारत साधारण जनता के लिए ज्ञान का भण्डार है। महाभारत के इस महासागर में कथा, शिक्षा, धर्म आद की नदियाँ मिल गई हैं। इसी एक ग्रन्थ में साधारण जनों को सब कुछ मिल जाता है, इसीलिए महाभारत जनता में बहुत लोकप्रिय रहा है। वीर-काव्य होने के कारण यह जनता को प्रेरणा देता है। अर्वाचीन युग में जो स्थान आल्हा खण्ड का है, वही स्थान प्राचीन परम्परा में महाभारत का है। आल्हा खण्ड एक प्रकार से हिन्दी का अर्वाचीन महाभारत है। महाभारत की घटनाओं की नाटकीयता तथा गम्भीर यथार्थ और संवाद की शैली उसे अधिक रुचिकर बना देती है। धर्म, शिक्षा आदि की द ष्टि से विषयों की उपयोगिता इस रुचि का पोषण करती है। इसी लोकप्रियता के कारण प्राचीन काल से ही महाभारत की कथा जन समूहों में गाई जाती रही है। स्वयं महाभारत की रचना ही इसी गायन के रूप में हुई है। शौनक के द्वादशवर्षीय सत्र में महाभारत के गायन में इस परम्परा का प्रमाण मिलता है। महाभारत के विषयों की व्यापकता और जनता में उसके आदर एवं उपयोग के कारण उसे पंचम वेद मानना नितान्त उचित है। स्वयं व्यास ने महाभारत के विषयों में वेद रहस्य का प्रथम उल्लेख किया है। धर्मोपदेश, विषयों की व्यापकता, जीवन के ज्ञान आदि की द ष्टि से महाभारत वेद के समान है। प्राचीनता, पवित्रता और लोकप्रियता उसे जनता का वेद बना देती है।

एक प्राचीन इतिहास और एक विशाल महाकाव्य होने के साथ-साथ महाभारत एक धर्मशास्त्र भी

है। भारतीय संस्कृति में धर्म का अर्थ पश्चिमी परम्परा के समान किसी विशेष साम्प्रदायिक आग्रह के अर्थ में रूढ़ नहीं है। धर्म की भारतीय परिभाषा के लिए ईश्वर के किसी विशेष रूप, किसी विशेष पैगेम्बर, धर्म-ग्रन्थ आदि की मान्यता आवश्यक नहीं है। धर्म का यह भारतीय रूप अत्यन्त उदार और मानवीय है। इसमें एक उदार और मानवीय रूप में ईश्वर तथा देवता की उपासना भी सम्मिलित है। किन्तु मनुष्यता, स्वतन्त्रता, समानता आदि इस उपासना के आवश्यक अंग हैं। एक उदार मानवीय आचार इस धर्म का मुख्य तत्त्व है; इसलिए यही आचार अथवा कर्त्तव्य धर्मशास्त्रों का मुख्य विषय बन गया है। धर्मशास्त्रों में धर्म के इसी रूप का विवरण अधिक मिलता है। इसी अर्थ में महाभारत को भी धर्मशास्त्र माना जाता है। भारतीय धारणा के अनुसार जो बातें धर्म के अन्तर्गत मानी जाती हैं, उनका महाभारत में अनेक स्थानों पर विस्त त वर्णन मिलता है। इसी कारण महाभारत को इतिहास एवं काव्य होने के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी माना गया है। यह कहना अनुचित न होगा कि महाभारत में इतिहास की अपेक्षा काव्य अधिक है और काव्य की अपेक्षा धर्म का तत्त्व अधिक है। इसलिए आगे चलकर इसकी प्रतिष्ठा धर्मशास्त्र के ही रूप में अधिक हुई है।

भारतीय धारणा के अनुसार धर्म के जो विषय हैं, उनका महाभारत में अनेक स्थानों पर विस्तार से वर्णन किया गया है। धर्म के इन विषयों का विपुल परिमाण में समावेश करने के कारण ही महाभारत धर्मशास्त्र बना है। वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्य इस धर्म के मुख्य तत्व हैं। चातुर्वर्ण्य और वर्णाश्रम के धर्मों का उल्लेख महाभारत के आरम्भ में उसके विषयों के अन्तर्गत किया गया है। इन धर्माचरणों का विधान महाभारत में अनेक स्थानों पर मिलता है। शान्तिपर्व में और अनुशासन पर्व में धर्म का उपदेश विशेष रूप से तथा विस्तार के साथ किया गया है। इन पर्वों की इस विशेषता का उल्लेख आदिपर्व के दूसरे अध्याय में महाभारत के विषय-विवरण के प्रसंग में किया गया है। वर्णाश्रम-धर्म, राज-धर्म, स्त्री-धर्म आदि का वर्णन महाभारत में प्रामाणिक रूप से किया गया है।

वर्णो और आश्रमों के कर्त्तव्यों का जिस रूप में महाभारत में विवरण दिया गया है, धर्म का वह रूप भारतीय जीवन का अंग रहा हैं। ये आचार और कर्त्तव्य हमारे सामाजिक जीवन के पथप्रदर्शक रहे हैं। ऐतिहासिक पात्रों के आदर्श और धार्मिक आचार दोनों ही रूपों में महाभारत भारतीय संस्कृति का भण्डार है। तीर्थों के वर्णन तथा व्रतों के उपदेश संस्कृति के इस भण्डार को और सम्पन्न बनाते हैं। इस प्रकार भारतीय परम्परा के विभिन्न अङ्गों का यह सुन्दर काव्य भारतीय संस्कृति का एक विशाल कोष है और आकार ओर महत्ता दोनों की द ष्टि से यह भारतीय संस्कृति के गौरव के अनुरूप है।

इतिहास काव्य और धर्मशास्त्र की सभी कृतियां रचनात्मक होने से संस्कृति का अंग मानी जाती है इस द ष्टि से महाभारत सामान्य कृतियों से भिन्न एक असाधारण महाकाव्य है। जो किसी एक व्यक्ति और एक काल की रचना न होकर व्यक्ति और काल की द ष्टि से समष्टि का रूप है। अतः सांस्कृतिक द ष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। महाभारत की प्रत्येक घटना, प्रत्येक चरित्र का अपना नैतिक स्वरूप है प्रत्येक चरित्र का जीवन व्यावहारिक शिक्षाओं से ओत-प्रोत है। भीष्म की स्पष्टवादिता उनका कर्त्तव्य, सत्यपरायणता, प्रतिज्ञा पालकता विदुर का अपरिमित ज्ञान और न्यायशीलता युधिष्ठिर का सत्य प्रेम विपरीत परिस्थितियों में भी मानसिक स्थिरता और सन्तुलन चरित्र की सादगी भीम और अर्जुन के क्रोध को शांत करने वाली उनकी मधुर और कोमल वाणी भीम का अतुल बल अर्जुन की तीव्र मेधा और द ढता तथा कृष्ण के प्रति उनकी असीम श्रद्धा नकुल और सहदेव का भ्रात प्रेम और आज्ञाकारिता द्रोपदी की पति परायणता साहस ओर सहनशीलता ये सब महाभारत में विस्तारपूर्वक वर्णित हैं ये मानवोचित गुण किसी भी देश की सांस्कृति का उज्जवल स्वरूप प्रकट करते हैं। इसलिए प्राचीन भारतीय वीरों की कथा प्रस्तुत करने वाला यह महाकाव्य हमारे लिए अत्यधिक सांस्कृतिक महत्व का है।

महाभारत में तात्कालिक समाज में विद्यमान मानवोचित गुणों के विपरीत कौरवों की धोखाधड़ी

अदूरदर्शिता स्वार्थ प्रथा लोलुपता जैसे दुर्गुणों का भी प्रकाशन हुआ है जिनके आधार पर कोई भी सत्य समाज स्वयं को इस प्रकार के दुर्गुणों से बचाने का यत्न करेगा। क्योंकि अधर्म और असत्य का मार्ग ग्रहण करने वाले मनुष्यों का अन्ततः नाश होता है। हमारे समस्त काव्य ग्रन्थों का एक प्रयोजन यह होता है कि रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत् अर्थात् महापुरुषों की तरह व्यवहार करना चाहिए दुष्टों की तरह नहीं महाभारत हमें यही सन्देश देता है। भारतीय संस्कृति के विशेष भाव या तत्त्व महाभारत में सुन्दर और प्रभावी रूप से साकार हुए हैं। भरतवंशी वीरों का चरित्र भारतीय इतिहास की एक ओजस्वी परम्परा है। इतिहास की घटनाएं इतिहास के पात्र इतिहास के आदर्श जब समाज की प्रतिष्ठित परम्परा बन जाते हैं तो उनका सांस्कृतिक महत्त्व बढ़ जाता है जिन काव्यों में ऐसी परम्पराएं अंकित होती हैं तथा जो काव्य ऐसी परम्पराओं के वाहक बन जाते हैं वे लोकनिधि कहलाते हैं। इस द ष्टि से महाभारत महाकाव्य भारतीय लोक की निधि है और निसन्देह यह निधि सांस्कृतिक द ष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

अन्त में महाभारत के सांस्कृतिक महत्त्व को सर्वाधिक रूप से प्रकट करने वाली भगवद्गीता के उपदेश का उल्लेख भी यहां आवश्यक है। भगवान् कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए इस उपदेश का सांस्कृतिक महत्त्व केवल भारतीयों के लिए ही नहीं अपितु समस्त विश्ववासियों के लिए है गीता का यह उपदेश विश्व संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। इस उपदेश के विषय में कुछ विद्वान् इस तरह का प्रश्न उठाते हैं कि जब विश्व युद्ध और शांति के बीच झूल रहा हो तब भगवद्गीता का उपदेश युद्ध का प्रतिपादन करता है अथवा शांति का? वस्तुतः गीता के उपदेश के सन्दर्भ में इस प्रकार का प्रश्न करना हमारी भूल है क्योंकि यह उपदेश न युद्ध के लिए है न शांति के लिए है अपितु इसका उद्देश्य है मानव कल्याण। यदि मानव कल्याण युद्ध से सम्भव है तो गीता युद्ध का उपदेश करती है और यदि यह मानव कल्याण शांति से सम्भव है तो शांति का उपदेश करती है वस्तुत युद्ध और शांति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिए किसी आधुनिक विचारक का यह कथन कि यदि शांति चाहते हो तो युद्ध के लिए तैयार रहो, सत्य ही है। इस प्रकार महाभारत में प्रतिपादित अंहिसा और युद्ध परस्पर विरोधी नहीं है महाभारत की अंहिसा दुर्बल भावुक निराश हठी या धर्मान्ध लोगों का दर्शन नहीं है। यह तो मधुर तर्कशीलता और साहस का दर्शन है।

इस प्रकार चाहे आदर्श की बात हो, कर्त्तव्य की बात हो, अथवा अहिंसा और युद्ध की बात हो सभी द ष्टियों से महाभारत हमारे समक्ष उच्चतम सांस्कृतिक मूल्य उपस्थित करता है। अतः यह महाकाव्य हमारे लिये सांस्कृतिक द ष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है।

महाभारतकालीन समाज -

सम् तथा आङ् पूर्वक अज् धातु से घ ा् प्रत्यय करने पर समाज शब्द सिद्ध होता है। अज् धातु गति और क्षेपण के अर्थ में पठित है। गति के भी ज्ञान गमन और प्राप्ति भेद से तीन अर्थ होते हैं। अतः समाज शब्द का अर्थ हुआ - ज्ञान और क्रिया की सहमति के आधार पर एकत्रित होने वाल समूह। ज्ञांन और क्रिया की सहमति मंनुष्यों के समूह में ही सम्भव है अतः मनुष्यों के समूह को ही समाज कहते हैं।

व्यक्ति समाज की इकाई है। व्यक्तियों से परिवार तथा परिवारों से समाज का निर्माण होता है। अल्प ज्ञान और अल्पशक्ति मनुष्य के लिए इस असीम तथा रहस्यपूर्ण संसार में एकाकी जीवन बिताना सम्भव नहीं है। उसे दूसरे व्यक्ति के ज्ञान और क्रिया के सहयोग की निरन्तर अपेक्षा रहती है। मिलजुल कर समूह में रहने से उसकी यह अपेक्षा पूर्ण हो जाती है। इस प्रकार समाज मनुष्य की सुख-सम द्धि और विकास का मुख्य आधार है।

किसी भी काल के समाज का रूप उस काल के साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है। अतः किसी काल विशेष के सामाजिक स्वरूप को जानने का सर्वोत्तम साधन उस काल का साहित्य ही होता है।

महाभारत महाकाव्य में तत्कालीन समाज के स्वरूप का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह काल सामाजिक व्यवस्थाओं के संक्रमण का काल था। समाज में प्राचीन परम्परायें तीव्रता से बदल रही थीं। इस काल की सामाजिक व्यवस्था वैदिक काल के समान सहज और सरल नहीं रह गयी थी। पुरातन व्यवस्था के प्रति आग्रहवान् महाभारतकार के तत्कालीन व्यवस्था विषयक क्षोभ को उनके इस कथन में देखा जा सकता है-

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न कश्चिच्छ णोति माम्।

धर्मादर्थश्च कामश्च स अर्थः किं न सेव्यते।

अर्थात् मैं अपने भुजायें उठाकर पुकार रहा हूँ, किन्तु धर्मपूर्वक अर्थ और काम के सेवन की बात को कोई सुनता ही नहीं है।

महाभारत के इस कथन से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में अपनी पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्थाओं की अपेक्षा विशिष्ट परिवर्तन आ रहे थे।

प्राचीन भारतीय समाज का ढाँचा वर्ण तथा आश्रम जैसी सामाजिक संस्थाओं पर आधारित था। महाभारत काल में भी सामाजिक ताना-बाना वर्ण तथा आश्रम व्यवस्थाओं के बीच ही बुना हुआ था। यद्यपि इस काल में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे, वर्ण के साथ जाति भी अस्तित्व में आने लगी थी तथापि मूलभूत सामाजिक कलेवर प्रायः वही है जो हमें संहिता और उपनिषद्काल में द ष्टिगोचर होता है। यहाँ महाभारकालीन समाज के वर्णाश्रमादि घटकों पर विचार प्रस्तुत हैं—

वर्ण व्यवस्था- वर्ण व्यवस्था भारतीय समाज की ऐसी विशेषता है जिसका इस रूप में उदाहरण किसी अन्य देश में नहीं मिलता। वर्ण का सिद्धान्त एक ऐसा सामाजिक सिद्धान्त है जो समाज में आधारभूत होने के साथ-साथ व्यावहारिक भी है। इस सिद्धान्त के उद्भव और विकास के विषय में धर्मशास्त्रीय साहित्य तथा महाकाव्यों में अनेक मन्तव्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।

प्राचीनतम वैदिक साहित्य में वर्णों की उत्पत्ति से संबंधित कई स्थल हैं। इनमें से ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार, 'इस ब्रह्माण्ड पुरुष का ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय भुजाएं हैं, वैश्य जंघाएं और शूद्र उसके चरण हैं। ऋग्वेदोक्त समाज का वर्णन उतना कठोर नहीं जितना कि उत्तरकाल में हो गया। ऋग्वेद के अनुसार, उच्च स्थानधारी ब्राह्मण, विस्त त गरिमा और शौर्य वाला क्षत्रिय, लाभ कमाने वाला वैश्य और श्रमजीवी शूद्र ये सभी अपने-अपने धर्म का पालन करें। इस व तान्त से ऐसा लगता है कि वैदिक वर्णन अत्यंत उदार थे।

वर्णों की उत्पत्ति कैसे हुई? इस संबंध में महाभारत ने वैदिक मत को ही स्वीकार किया है। किन्तु 'जान पड़ता है कि वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के विषय में सब पंडितों को पुरुष सूक्त से संतोष नहीं था। वह स्वयं मनोरंजक धारणायें निकाल रहे थे। महाभारत में ऐसे कृतयुग की कल्पना है जिसमें मानव के किसी विशिष्ट वर्ग या जातियों का अस्तित्व नहीं था। ब हदारण्यक उपनिषद् की भांति इसमें भी मानव जाति के प्रारंभ में एकमात्र ब्राह्मण वर्ण की बात कही गई है। इस वक्तव्य का विस्तार कर आगे कहा गया है कि ब्रह्मा द्वारा उद्भुत सारे मनुष्य ब्राह्मण ही जाने जाते थे किन्तु उनमें काल, मत्सर, क्रोध एवं साहस आदि रजोगुण प्रधान व्यक्ति क्षत्रिय कहलाये, कृषि एवं गोपालन आदि कार्यों से जीविका निर्वाह करने वाले रज एवं तम गुणों से संपन्न व्यक्ति वैश्य माने गये और जो आचार-विचार, शुचि एवं पवित्रता से हीन एवं निम्न कर्म करने वाले थे वे शूद्र हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल से ही समाज चार वर्णों में विभक्त था। महाभारत के अनुसार भी वर्ण चार ही हैं, पांचवा नहीं-'स्म ताश्च वर्णाश्चत्वारः पंचमो नाधिगम्यते।' सभी धर्मसूत्र, स्म तिग्रंथ एवं पुराणों में वर्णचतुष्टय का ही उल्लेख मिलता है। यवन आदि विदेशी आक्रमणकारी जातियों को चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अन्तर्गत ही स्थान दिया गया।

युद्धप्रिय होने के कारण एक ओर तो ये क्षत्रियों के समकक्ष रखे जा सकते थे, और दूसरी और

अनार्य होने के कारण शूद्रवत् व्यवहार के अधिकारी समझे गये। पुनश्च वेदविहीन आचार एवं ब्राह्मणों से सम्पर्क के अभाव के कारण इनकी गणना चतुर्थ वर्ण में ही की गयी। अनुशासन पर्व में स्पष्टतः कहा गया है कि ब्राह्मणों की कृपा से वंचित होने के कारण ये शूद्र कहलाये।

ब्राह्मण

धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण के अधोलिखित छह महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य कहे गये हैं-

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कमाण्यग्रजन्मनः।।

अर्थात् - अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान देना तथा दान लेना यह छह ब्राह्मण के कर्म हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर को ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों को इस प्रकार बताया है-

अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेतवा।

न व था प्रतिग हृणीयान्नचदद्यात् कदाचन।।

अर्थात् ब्राह्मण पढ़े, पढ़ाये, यज्ञ कराये और वैकल्पिक रूप से करे भी। अनावश्यक रूप से दान न ले तथा दान देने की उसे आवश्यकता नहीं है।

उद्योग पर्व के एक अन्य वर्णन के अनुसार कृष्ण, संजय को ब्राह्मण के कर्त्तव्यों को इस प्रकार बताते हैं -

अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत।

दद्यादीयात् तीर्थं मुख्यानि चैव।

अध्यापयेद् याजयेच्चापि यागान्।

प्रतिग्रहान् वा विहितान् प्रतीच्छेत्।।

भाव यह है कि- ब्राह्मण पढ़े-पढ़ाये, यज्ञ करे और कराये, मुख्य-मुख्य तीर्थों की यात्रा करे तथा दान दे और ले।

उक्त वर्णनों से ज्ञात होता है कि महाभारतकालीन सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण के कर्त्तव्य यद्यपि परम्परा प्राप्त ही हैं तथापि शौथिल्य और स्वातन्त्र्य भी द ष्टिगोचर होता है। महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मणों का कार्य क्षेत्र वेदाध्ययन-अध्यापन, जप-तप एवं पौरोहित्य तक सीमित न था। संकट के समय ब्राह्मण सैनिक-व त्ति भी अपना सकते थे। अग्निवेश्य, जमदग्नि, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि धनुर्वेद के प्रख्यात आचार्य थे। उनका आचार्यत्व केवल अध्यापन तक सीमित नहीं था। वे स्वयं प्रख्यात योद्धा भी थे। भीष्म के अनुसार जब दस्यु प्रबल होकर धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करने लगे तब सभी वर्ण शस्त्र ग्रहण कर सकते हैं। ब्राह्मणों की रक्षा के लिए अन्य सब वर्ण तथा अन्य वर्णों के रक्षार्थ ब्राह्मण को भी शस्त्र-ग्रहण करने का अधिकार था।

महाभारत में परशुराम, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य प्रभुति सैन्य-विज्ञान के मर्मज्ञ आचार्यों का उल्लेख है जिनके पास देश के सुदूर स्थानों से छात्र सैन्यविज्ञान का अध्ययन करने के लिए आते थे।

कभी-कभी ब्राह्मण एवं क्षत्रिय बालक युगपत् अध्ययन करते थे, यथा-आचार्य द्रोण एवं पांचालराज द्रुपद सतीर्थ थे। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने महाभारत-युद्ध में सक्रिय रूप से भाग लिया था। सौप्तिक पर्व में वर्णित उसके आतंक एवं न शंसतापूर्ण क्रिया-कलापों को कोई पाठक नहीं भूल सकता। परशुराम के प थ्वी को इक्कीस बार निःक्षत्रिय कर देने का उल्लेख महाभारत में अनेक बार हुआ है। गाधिपुत्र विश्वामित्र एवं वशिष्ठ के संघर्ष का उल्लेख महाभारत और रामायण में भी हुआ है। महर्षि वसिष्ठ द्वारा पराभूत होने के पश्चात् विश्वामित्र ने क्षात्र बल की अपेक्षा तपोबल को ही महान् माना और राज्यवैभव का परित्याग कर वे तपस्वी बने।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कुछ ब्राह्मण क्षत्रियों के कर्त्तव्यों का पालन कर रहे थे। इसके लिए उन्हें पुरोहितों के कार्य को छोड़ देना पड़ता था, क्योंकि एक साथ दो विरोधी कार्य नहीं किये जा सकते। ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों के कर्त्तव्यों को अपनाने के सन्दर्भ में विद्वानों की मान्यता है कि ''उपनिषदों का समय आते-आते क्षत्रिय-ब्राह्मण-संघर्ष उत्पन्न हो गया था और क्षत्रिय ब्राह्मणों से वह पद छीनने के लिए उद्यत हो गये, जिसका उपभोग ब्राह्मण वैदिक-काल से करते चले आ रहे थे। ब्राह्मणों के यज्ञानुष्ठान के विरुद्ध क्षत्रियों ने उपनिषद्-विद्या की प्रतिष्ठा की और ब्राह्मणों ने अपने दर्शनों की नींव डाली। उस संघर्ष का काल-प्रसार काफी लम्बा रहा, जो अन्ततः द्वितीय शती ई॰ पू॰ में ब्राह्मणों के राजनैतिक उत्कर्ष का कारण हुआ। इसमें एक ओर वसिष्ठ, परशुराम, तुरकावषेय, कात्यायन, राक्षस, पतंजलि और पुष्यमित्र शुंग की परम्परा रही तो दूसरी ओर विश्वामित्र, देवापि, जनमेजय, अश्वपति, कैकेय, प्रवहरण जैबालि, अजातशत्रु काशेय, जनक विदेह, पार्श्व, महावीर, बुद्ध और ब हद्रथ की।'' महाभारत में ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष की अनेक झांकियां विद्यमान हैं, यथा वशिष्ठ-विश्वामित्र संघर्ष, परशुराम-क्षत्रिय जाति संघर्ष आदि। सर्वोच्चता के लिए चलने वाली इस संघर्ष-परम्परा में अन्ततः ब्राह्मबल अथवा तपोबल को क्षत्र बल से श्रेष्ठ मानकर वर्णचतुष्टय में ब्राह्मण की ही श्रेष्ठता स्वीकार की गयी।

महाभारतकालीन समाज में ब्राह्मणों के लिए यद्यपि वर्णेतर कर्त्तव्य स्वीकार्य होने लगे थे तथापि जहाँ तक श्रेष्ठता का प्रश्न है तो वही ब्राह्मण श्रेष्ठ माने जाते थे जो शास्त्र ज्ञान एवं सदाचार दोनों से ही सम्पन्न होते थे। उन्हीं ब्राह्मणों का सम्मान होता था, जिनके लिए ब्रह्म (वेद) ही परम धन था, आत्म-ज्ञान ही स्वर्ग था वेद का स्वाध्याय करना ही श्रेष्ठ तप था। ऐसे ही ब्राह्मणों को महान् तीर्थस्वरूप माना गया है। अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान तथा परिग्रह—इन छः व त्तियों का आश्रय उनसे अपेक्षित होता था। इनमें से तीन कर्म—याजन, अध्यापन और श्रेष्ठ पुरुषों से दान लेना—ये ब्राह्मण की जीविका के साधन माने जाते थे। उसके शेष तीन कर्म—दान, अध्ययन तथा यज्ञानुष्ठान—ये धर्मोपार्जन के लिए माने जाते थे। तत्कालीन समाज में ऐसे अनेक ब्राह्मण विद्यमान थे, जो इन सात्विक गुणों की कसौटी पर खरे नहीं उतरते थे। ऐसे ब्राह्मणों को पंक्तिदूषकों की संज्ञा दी गई है। महाभारत में पंक्तिदूषकों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि ''जुआरी, गर्भहत्यारा, राजयक्ष्मा का रोगी, पशुपालन करने वाला, गांव भर का हरकारा, सूदखोर, गवैया, सब तरह की चीजें बेचने वाला, दूसरो का घर-फूंकने वाला, विष देने वाला, माता द्वारा पति के जीतेजी दूसरे पति से उत्पन्न किये हुए पुत्र के घर भोजन करने वाला (कुण्डाशी) सोमरस बेचने वाला, सामुद्रिक विद्या (हस्तरेखा) से जीविका चलाने वाला, राजा का नौकर, तेल बेचनेवाला, जिसके घर में जार पुरुष का प्रवेश हो वह, कलंकित, चोर, शिल्पजीव, बहुरूपिया, चुगलखोर, मित्रद्रोही, परस्त्रीलम्पट, व्रतरहित मनुष्यों का अध्यापक, हथियार बनाकर जीविका चलाने वाले, कुत्ते साथ लेकर घूमने वाला, जिसे कुत्ते ने काटा हो, जिसके छोटे भाई का विवाह हो गया हो ऐसा अविवाहित बड़ा भाई, चर्मरोगी, गुरुपत्नीगामी, नट का काम करने वाला, देवमन्दिर में पूजा से जीविका चलाने वाला और नक्षत्रों का फल बताकर जीने वाला—ये सभी ब्राह्मण पंक्ति से बाहर रखने योग्य हैं।'' महाभारतकार के अनुसार ये सब पंक्तिदूषक हैं, जिन्हें दिया हुआ श्राद्ध का दान राक्षसों को मिलता है, अर्थात् नष्ट हो जाता है। अतः इन्हें श्राद्ध में भोजन न कराना चाहिए।

इनके विपरीत समाज में ऐसे सत्वगुण प्रधान ब्राह्मण भी होते थे, जिनका समाज में अत्यधिक आदर होता था, जिनके समक्ष राजा भी सिर झुकाते थे। ऐसे ब्राह्मण पंक्ति को जितनी दूर देखते थे उतनी दूरी में बैठ हुए ब्राह्मण पवित्र हो जाते थे। इसलिए इन्हें पंक्तिपावन कहा जाता था। ऐसे ब्राह्मणों को 'पितरः सर्वभूतानां' (सभी प्राणियों के पिता) कहा गया है। जिसमें सत्य, दान, क्षमा, दया, सच्चरित्र, संयम आदि सात्विक गुण हों उसी को ब्राह्मण कहा गया है।

सम्भवतः इस गुण सम्पन्नता के कारण ही ब्राह्मण को आदरणीय और अवध्य माना गया था।

आदिपर्व के एक वर्णन के अनुसार ब्राह्मण को सभी प्राणियों के लिए अवध्य कहा गया है। (अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणों ह्यनलोपनः। एक अन्य वर्णन में ब्राह्मण वध को सभी प्राणियों के वध से भी अधिक भयंकर बताया गया है। (गरीयान् ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधारपि)

महाभारतकाल में ब्राह्मण की अवध्यता का नियम सम्भवत उन ब्राह्मणों के लिए ही था जो शास्त्रानुसार ब्राह्मण धर्म का पालन कर रहे थे। किन्हीं भी कारणों से जिन्होंने क्षात्र धर्म को अपना लिया था उनके विषय में अवध्यता का नियम नहीं रहा होगा। ऐसा महाभारत युद्ध में मारे गये द्रोणाचार्य ब्राह्मण-योद्धाओं के प्रसंग से प्राप्त होता है।

महाभारत में धर्म नामक अपने ग्रन्थ में डा॰ शकुन्तला तिवारी लिखती हैं कि ''अवध्यता का मान और प्रतिग्रह का अधिकार ब्राह्मणों को किसी पक्षपात के कारण नहीं वरन् धर्म और संस्कृति की रक्षा के उद्देश्य से दिया गया था''।

महाभारत में ब्राह्मण द्वारा आचरणीय द्वादश व्रतों का उल्लेख है—

धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च

अमात्सर्यं हीस्तितिक्षानुसूया।

यज्ञश्च दानं च ध तिः श्रुतं च

व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य।।

अर्थात् धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह, तप, मात्सर्य का अभाव, लज्जा, सहनशीलता, निन्दा न करना, यज्ञ करना, दान देना और शास्त्र ज्ञान, ये बारह व्रत ब्राह्मण द्वारा पालनीय हैं। उक्त व्रतधारी ब्राह्मण के अपराधी होने की सम्भावना अति न्यून है। अनजाने में हुए किसी अपराध के लिए उसकी अवध्यता उचित ही है।

यहाँ यह भी लिख देना उचित ही है कि समाजशास्त्र के ऐसे अनेक विद्वान हैं जो इस प्रकार के नियमों को उच्चवर्गीय तथा शास्त्रकार ब्राह्मणों द्वारा अपने लिए सुरक्षित विशेषाधिकार मानते हैं।

जो भी हो महाभारतकालीन समाज में ब्राह्मण वर्ण, अपनी पूर्ववर्ती वर्ण व्यवस्था के अनुरूप, श्रेष्ठ और सम्माननीय था। महाभारतकालीन ब्राह्मण अपने विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए संघर्ष के लिए भी तत्पर दिखाई देता है। वह ब्राह्मण के लिए वर्ज्य क्षत्रिय कर्त्तव्यों को धारण करने लग गया था।

क्षत्रिय

महाभारत के अनुसार समाज में जो मनुष्य युद्ध आदि कर्म का सेवन करता है, वेदाध्ययन में लगा रहता है, ब्राह्मणों को दान देता है, प्रजा से कर लेकर उसकी रक्षा करता है, वह क्षत्रिय है।

क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः।

दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते।।

एक अन्य परिभाषा के अनुसार— जो क्षति अर्थात् संकट से अपना और दूसरों का त्राण करता है, क्षति पहुंचाना ही जिसकी जीविका है, जो स्त्रियों और सत्पुरुषों पर क्षमा भाव रखता हे। वह शीघ्र ही धर्म, लक्ष्मी तथा प थ्वी का अधिकारी होता है।

क्षतत्राता क्षताज्जीवन् क्षिप्रं धर्मं यशः श्रियः।।

उक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समाज के समस्त वर्गों की रक्षा का उत्तरदायित्व क्षत्रिय के ऊपर था।

महाभारत में क्षत्रियों की कर्त्तव्य-मीमांसा करते हुए कहा गया है कि क्षत्रिय का सबसे पहला धर्म है प्रजा का पालन करना। प्रजा की आय के छठे भाग का उपभोग करने वाला राजा धर्म का फल

पाता है। इन्द्रियसंयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्र-कर्म, दान, अध्ययन, यज्ञोपवीत-धारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक कार्य का सम्पादन, पोष्यवर्ग का भरण-पोषण, आरम्भ किये हुए कार्य को सफल बनाना, अपराध के अनुसार उचित दण्ड देना, वैदिक यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना, व्यवहार में न्याय की रक्षा करना और सत्य-भाषण में अनुरक्त होना—ये सभी कर्म राजा के लिए धर्म ही हैं। इसके अतिरिक्त आर्त-त्राण, गो-ब्राह्मण आदि की रक्षा का भार भी राजा पर होता है।

क्षात्र धर्म के अन्तर्गत प्रजा की रक्षा करते हुए प्रजारंजन करना राजा का प्रमुख धर्म था। जिस राजा ने अपनी प्रजा की भरपूर रक्षा की है उसे न तप करने की आवश्यकता है और न यज्ञ करने की।

कौटिल्य का कहना है कि 'प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में राजा का हित।'—इसलिए उसे निरकुंश न होना चाहिए। शान्तिपर्व में कहा गया है कि राजा को गर्भवती स्त्री की भांति मनचाहा नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उसे प्रजासुख के लिए शास्त्र-विहित कार्य करना चाहिए, धर्म पर आश्रित रहना चाहिए।

क्षात्र धर्म अत्यन्त कठोर माना गया है। रणक्षेत्र में गुरु शिष्य का कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। क्षत्रिय रणक्षेत्र में पारिवारिक बन्धनों एवं मर्यादाओं का परित्याग करके अपने भाइयों एवं पित व्यों से भी युद्ध करते हैं। इसीलिए भीष्मपर्व में क्षात्र-जीविका को अनेक बार धिक्कारा गया है ··· 'धिगस्तु क्षत्रजीविकाम्'। क्षत्रिय के लिए कतिपय गुण आवश्यक माने जाते थे। जैसे—

आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा लोकज्ञानं मोक्षणं पालनं च।

विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम्।।

यह उल्लेखनीय है कि क्षत्रिय के लिए अपेक्षित गुणों में क्षमा, आन शंस्य जैसे गुणों का उल्लेख नहीं है, क्योंकि ऐसी मान्यता थी कि इस योनि में प्रायः क्रूरबुद्धि जन्म लेते हैं। क्षात्र धर्म महारौद्र माना जाता था—'क्षत्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्म तः। भीरु क्षत्रिय को असाधु कहा गया है। वस्तुतः तेज ही क्षत्रियों का बल माना जाता था ··· क्षत्रियाणां बलं तेजः। शत्रुओं के अतिरिक्त अन्य असामाजिक तत्त्वों का उन्मूलन करके राज्य में शान्ति स्थापित करना क्षत्रियों का परम कर्त्तव्य था। जिस प्रकार ब्राह्मण को महाभारत में शास्त्र बल से युक्त कहा गया है वैसे ही क्षत्रिय को शस्त्र बल से युक्त माना गया है।

अत्यन्त कठोर तपस्या करने पर ऋषि जिस पद को प्राप्त करते हैं, उसी पद को क्षत्रिय अपने क्षात्र धर्म का पालन करते हुए पा सकता है—ऐसी धारणा बनी हुई थी। क्षत्रिय की म त्यु वन अथवा संग्राम में ही श्रेष्ठ मानी जाती थी। घर में उसकी म त्यु होना उसके लिए निन्दास्पद माना जाता था।

समाज में क्षत्रिय के महत्त्व को महाभारतकाल के इस कथन से समझा जा सकता है कि चारों वर्णों तथा आश्रमों के धर्म और जाति धर्म आदि क्षात्र धर्म में ही व्यवस्थित हैं।

चातुराश्रम्यधर्माश्च जातिधर्माश्च पाण्डव।

लोकपालोत्तराश्चैव क्षात्रे धर्मे व्यवस्थिताः।

क्योंकि यदि क्षत्रिय अपने कर्त्तव्य पालन में शिथिल हो जाये तो समाज का स्वरूप छिन्न-भिन्न होकर उसमें मात्स्य न्याय की प्रवर्तना हो जाय।

वैश्य

महाभारत में उपलब्ध वैश्य की परिभाषा के अनुसार जो वेदोध्ययन पूर्वक व्यापार, पशुपालन और कृषि कर्म करके अन्न संग्रह करने में रुचि रखता है और पवित्र रहता है वह वैश्य कहलाता है।

प्राचीन वर्ण व्यवस्था के अनुसार वैश्य का परिगणन द्विजों में किया गया है। सम्भवतः यही कारण है कि वैश्यों के लिए वेदाध्ययन को भी आवश्यक कर्म माना गया है। किन्तु महाभारत के इस कथन से कि— ''कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'' अर्थात् ''कृषि, पशुपालन और व्यापार वैश्यों

के स्वाभाविक कार्य है'' प्रतीत होता है कि उक्त तीन कर्म वैश्यों के प्रमुख कर्त्तव्य तथा दान, यज्ञ तथा अध्ययन अथवा स्वाध्याय आदि सामान्य कर्त्तव्य रहे होंगे।

महाभारतकालीन समाज में वैश्यों का सम्बन्ध मुख्यतः आर्थिक जीवन से ही था। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कृषि गोरक्षा और वाणिज्य उनके प्रमुख कर्त्तव्य थे। वस्तुतः तत्कालीन समाज की अर्थव्यवस्था के यही मुख्य आधार थे। तत्कालीन ही क्यों भारतीय अर्थव्यवस्था के तो आज भी कृषि आदि ही मुख्य आधार हैं।

वैश्यों के कर्त्तव्यों में धनार्जन की अतिरिक्त दान और यज्ञादि धर्माचरणों का भी बहुत महत्त्व है। अर्थव्यवस्था में व्यापार आदि के प्रसंग में लाभ का प्रलोभन स्वार्थ को बढ़ा सकता है। वह प्रलोभन कहीं समाज की व्यवस्थाओं को असन्तुलित न कर दे इस लिए तत्कालीन समाज में वैश्यों के लिए दान, यज्ञ, अध्ययन आदि को कर्त्तव्य के रूप में निर्धारित किया गया। दान और यज्ञ के द्वारा संचय की एकपक्षता सन्तुलित होती है। अध्ययन अर्थात् सत् शास्त्रों का स्वाध्याय अर्थ की भौतिकता को सन्तुलित करता है। ये सभी कर्त्तव्य वैश्य को अर्थोपार्जन के समय सदैव शुचिता का स्मरण कराते हैं। धर्मशास्त्रों के समान ही महाभारत में भी वैश्यों को धर्मशक्ति और सदाचारी होने का आदेश दिया गया है। वस्तुतः अर्थोपार्जकों की इसी धर्मशीलता ने ही प्राचीन भारतीय समाज को अनर्थों से बचाया है। इसी के कारण ही भारतवर्ष में इतनी धर्मशालायें, कूप, तडाग, मन्दिर, सदावर्त आदि उदार धर्मक्षेत्र दिखाई देते हैं। आज अर्थोपार्जकों में शील का अभाव होने से जो हाय तोबा मची हुई है वह कम से कम अर्थव्यवस्था की द ष्टि से महाभारत काल में नहीं रही होगी।

महाभारतकालीन समाज में द्विजन्मा होने के कारण वैश्य को वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमोचित सभी धार्मिक कार्यों को करने का अधिकारी माना गया था। विविध वाणिज्य-व्यवसाय के द्वारा देश को सम द्ध बनाना वैश्यों का प्रमुख कर्त्तव्य था। किन्तु वाणिज्य पर वैश्यों का एकाधिकार न था। संकट-काल में ब्राह्मण एवं क्षत्रियों को भी वणिक्-कर्म अपनाने की छूट दी गयी थी।

वैश्य की आर्थिक स्थिति के अनुसार उसे राज-सम्मान आदि प्राप्त होता था। कभी वे सैनिक व त्ति भी अपना लेते थे। सैद्धान्तिक रूप से वैश्य आचार्य नहीं बन सकते थे। व्यावहारिक रूप में भी महाभारत में किसी वैश्य आचार्य का उल्लेख नहीं मिलता। सैद्धान्तिक रूप में यह उल्लेख अवश्य है कि गौ-ब्राह्मणों तथा स्वयं के परित्राण के लिए और वर्णसंकटत्व के समय वैश्य धर्नुधारण कर सकता है।

शूद्र

भारतीय समाज में शूद्र वर्ण की स्थिति अत्यन्त दयनीय रही है। वर्ण व्यवस्था के आरंभिक चरण में सम्भवतः यह स्थिति इतनी दयनीय रही हो किन्तु धीरे-धीरे जब वर्ण निर्धारण का आधार कर्म के स्थान पर जन्म हुआ तब शूद्रों की स्थिति समाज में अत्यन्त शोचनीय हो गयी। पीछे हम पढ़ चुके हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य अपने मान, वैभव आदि का उपभोग करते रहे हैं। किन्तु यह हमारी सामाजिक व्यवस्था की विडम्बना ही है कि शूद्र प्रायः समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित रहे।

समाज में शूद्रों की इस स्थिति के प्रसंग में प्रतिक्रियावादी विचारक प्रायः धर्मशास्त्रों को दोषी ठहराते हैं, जो उग्र और एकांगी द ष्टिकोण है। एतद्देशीय स्थितियों को दूसरे देशों से तुलना करते हुए वे प्रायः संस्कृति, आचार आदि की द ष्टि से इन देशों के साथ भारतवर्ष का जो अन्तर है तथा इन क्षेत्रों में भारतवर्ष की जो अतिरंजित विशेषतायें रही हैं उन पर ध्यान नहीं देत। यद्यपि इस सन्दर्भ में धर्मशास्त्र पूर्णतः निर्दुष्ट नहीं हैं क्योंकि समाज में व्याप्त अमानवीय आचरण के समर्थन और पोषण के लिए तथा उसमें सुधार की कल्पना एवं चेष्टा न करने के उत्तरदायत्वि से वे बच नहीं सकते तथापि प्रत्येक सामाजिक समस्या के सम्बन्ध में विचार करते हुए विचारकों को सन्तुलित द ष्टिकोण

अपनाना चाहिए।

शान्ति पर्व में भारद्वाज के पूछने पर भ गुजी ने उन्हें शूद्र के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरो शुचिः।

त्यक्त वेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्म तः।।

अर्थात् वेद सम्मत आचरणादि का विचार किये बिना जो सदैव सब कुछ खाने और सब कुछ करने में अनुरक्त, अपवित्र व्यक्ति शूद्र है।

महाभारत में शूद्र वर्ण के कर्त्तव्यादि का विवरण धर्मशास्त्रों के समान ही उपलब्ध होता है। महाभारत में भी उच्च वर्णों की सेवा को ही शूद्रों का प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है। शान्ति पर्व में भारद्वाज के पूछने पर सेवा को ही शूद्रों का प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है।

शान्ति पर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि -

प्रजापतिर्हिवर्णनां दासं शूद्रमकल्पयत्।

तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते।।

अर्थात् प्रजापति ने तीनों वर्णों के सेवक रूप में शूद्र वर्ण की स ष्टि की है इसलिए तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का शास्त्रविहित कर्त्तव्य है।

उद्योग पर्व में श्री कृष्ण, संजय को शूद्र के कर्त्तव्यों के विषय में उपदिष्ट करते हुए कहते हैं कि ब्राह्मणों की सेवा तथा वन्दना करे, वेदों का स्वाध्याय न करे। उसके लिए यज्ञ का भी निषेध है। वह सदा उद्योगी और आलस्य रहित होकर अपने कल्याण की चेष्टा करे। यही शूद्रों का प्राचीन धर्म है।

शान्ति पर्व के एक अन्य पद्य में शूद्र को अपने स्वामी के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए इस विषय में कहा है—

शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्याचिदापदि।

अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये।।

शूद्र को चाहिए कि किसी आपत्ति में भी स्वामी का परित्याग न करे। यदि स्वामी के धन का नाश हो जाय तो शूद्र को अपने कुटुम्ब के पालन से बचे हुए धन से उसका भरण पोषण करना चाहिए।

महाभारत के अनुसार सन्तान के अभाव में शूद्र अर्थात् सेवक को ही स्वामी के लिए पिण्डदान करना चाहिए (देयः पिण्डो नपत्याय)।

महाभारत में शूद्रों के द्वारा सम्पत्ति संग्रह का निषेध है। यह निषेध इस लिए है कि सम्पत्ति का संग्रह करके उसका सेवाभाव समाप्त हो जायेगा। सेवाव त्ति का कार्य तो छोटा रह कर के किया जा सकता है। धन संग्रह से बड़ा हुआ व्यक्ति किसी का सेवा कार्य क्यों करेगा। सम्भवतः इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर ही धर्मशास्त्रों ने शूद्रों के अर्थसंचय का निषेध किया है।

महाभारतकालीन समाज विरोधाभासों से भरा हुआ समाज था। एक ओर तो शूद्र मौलिक अधिकारों से वंचित था तो दूसरी ओर महाभारत में अनेक शूद्र विविध उच्चकर्म में रत पाये जाते हैं। महाभारत में यह स्पष्ट घोषणा की गयी है कि ज्ञान किसी भी तरह से प्राप्त करना चाहिए। चाहे शूद्र ही क्यों ने हो, उससे भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सैद्धान्तिक रूप में यद्यपि शूद्र वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित था, तथापि व्यावहारिक रूप में उसे यह अधिकार प्राप्त था। धर्मव्याध ने गौतम नामक क्रोधी ऋषि को धर्म के शाश्वत गूढ़ सिद्धान्त समझाये थे। इससे स्पष्ट है कि शूद्रों को अध्ययन विषयक अनेक सुविधाएं प्राप्त थीं। एक ओर सिद्धान्ततः शूद्रों के लिए वेदाध्ययन का निषेध और दूसरी ओर उनसे भी ज्ञान सीखने के लिए उपदेश स्पष्टतः हमारे सामने दो विचारधाराएं प्रस्तुत

करते हैं। एक विचारधारा रूढ़िवादी (कट्टरवादी) लोगों की थी जो जन्म को ही अधिक महत्त्व देते थे। इन्हीं लोगों ने सम्भवतः शूद्रों को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित करके उन्हें उच्च शिक्षा के क्षेत्र में हतोत्साहित करना चाहा था। दूसरा वर्ग सुधारवादी विचारकों का था, जो जन्म को नहीं, अपितु गुण-कर्मों को ही अधिक महत्त्व देते थे। ऐसे लोगों का स्पष्ट कथन था कि वर्णतः ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ होने पर भी व्यक्ति यदि शीलविहीन है तो उसकी पूजा नहीं करनी चाहिए यदि कोई शूद्र होते हुए भी धर्मज्ञ एवं उच्च चरित्र वाला है तो उसकी पूजा करनी चाहिए। ऐसे ही उदारवादी लोगों का यह विचार था कि चारों वर्ण के लोगों को वेद सुनना चाहिए, शूद्र से भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए आदि। अतः यह अनुमान सर्वथा अनुचित न होगा कि इन सुधारकों की विचारणा से अनुप्रेरित होकर शूद्र समुदाय का एक भाग अवश्य ही वेदाध्ययन में रत रहा होगा।

महाभारत में शूद्रों को पंचमहायज्ञादि कर्म बिना मन्त्रपाठ के करने की अनुमति प्राप्त है (स्वाहाकारनमस्कारौ मन्त्रः शूद्रे विधीयते)। युधिष्ठर ने अपने राजसूय यज्ञ में मान्य शूद्रों को भी निमन्त्रित करने के लिए कहा था। वस्तुतः शम, दम, क्षमा, दया आदि गुणों के अभाव में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न ब्राह्मण भी असाधु माना जाता था। इसके विपरीत यदि ये ही गुण शूद्र में होते तो वह शूद्र होते हुए भी ब्राह्मण का-सा आदर पाता था—

कर्मभिः शुचितभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।

शूद्रोपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माब्रवीत् स्वयम्।।

इससे प्रमाणित होता है कि महाभारत काल में वर्ण निर्धारण के लिए गुण तथा कर्म को भी आधार रूप में स्वीकार किया जाने लगा था।

इस प्रकार महाभारतकालीन समाज में वर्णादि के कर्त्तव्यों और अधिकारों के विषय में वैचारिक संघर्ष द ष्टिगोचर होता हैं। यद्यपि महाभारतकालीन समाज में शूद्र वर्ण के कर्त्तव्य और अधिकारों में कुछ जागरूकता दिखती है तथापि उस काल में प्रायः वही स्थिति है जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य, समाज में सभी प्रकार के धन, मान, सम्मान और प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं और शूद्र, मौलिक मानवीय अधिकारों से भी वंचित है। यही कारण है कि विद्वान् तथा गुणवान् होते हुए भी विदुर दासी पुत्र होने के कारण राज्य के अधिकारी नहीं समझे गये दूसरी और रोगी पाण्डु और नेत्रहीन ध तराष्ट्र को क्षत्रिय होने के कारण ही राज्य प्राप्त हुआ।

वर्ण-संकर

वर्ण के आधार पर प्राचीन काल में सवर्ण और असवर्ण—ये दो प्रकार के विवाह हुआ करते थे। सवर्ण विवाह में वर-वधू एक ही वर्ण के होते थे। अतः वर्ण-शुद्धि बनी रहती थी। जब वर-वधू भिन्न वर्ण के होते तो उसे असवर्ण विवाह की संज्ञा दी जाती थी। ये असवर्ण विवाह ही वर्ण-संकर की उत्पत्ति के मूल कारण प्रतीत होते हैं। असवर्ण विवाह के दो उपप्रकार हैं—अनुलोम और प्रतिलोम। अनुलोम विवाह में वर का वर्ण कन्या के वर्ण से और प्रतिलोम विवाह में कन्या का वर्ण वर के वर्ण से ऊंचा होता था।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वर्ण-सांकर्य का सिद्धान्त भारतीय मेधा की उर्वरा शक्ति का प्रतीक है। वर्णचतुष्टय के अतिरिक्त अन्य जातियों के उद्गम को समझाने के लिए इस सिद्धान्त की कल्पना कालान्तर में की गई। इससे पूर्व 'पित सावर्ण्य' का सिद्धान्त प्रचलित था, जो एक आदर्श सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त के अनुसार पुत्र अपने पिता के वर्ण का ही माना जाता था, माता चाहे किसी भी वर्ण की हो। जिस प्रकार एक ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण माना जाता था, उसकी प्रकार क्षत्राणी अथवा वैश्या में ब्राह्मण से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही कहलाता था-

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातः ब्राह्मणः स्यान्न संशयः।

क्षत्रियायां तथैव स्यात् वैश्यायामपि चैव हि।।

इसमें वर्ण-सांकर्य का कोई प्रश्न नहीं था। चारों वर्णों के अन्तर्गत मिश्र विवाह के फलस्वरूप उत्पन्न सन्तति चार वर्णों के अन्तर्गत ही थी। सन्तति के वर्ण पर प्रधानतया पिता के वर्ण का प्रभाव होता था।' चार वर्णों के अतिरिक्त कोई अन्य वर्ण था ही नहीं। ग्रन्थकार का स्पष्ट कथन है कि ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही होगा–

त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणात् ब्राह्मणो भवेत्।

स्म ताश्च वर्णाश्चत्वारो पंचमो नाधिगम्यते।

गोत्र एवं जातियाँ

गोत्र एवं जाति में स्वरूपतः पर्याप्त अन्तर है। गोत्र एक काल्पनिक पूर्वज पर आधारित असंगठित और काल्पनिक समूह है, जबकि जाति एक वास्तविक एवं संगठित समूह है। गोत्र एक बहिर्विवाही विभाजन है, जबकि जाति अन्तर्विवाही विभाजन है। अभिप्राय यह कि सामाजिक व्यवस्था के अनुसार सगोत्रीय विवाह का निषेध तथा सजातीय विवाह का विधान है। महाभारत में अंगिरा, कश्यप, वशिष्ठ तथा भ गु यह चार मूल गोत्र ही बताये गये हैं।

महाभारत के आरण्यक पर्व में आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, और्णिक तथा आभीर आदि म्लेच्छ जातियों का उल्लेख मिलता है–

बहवो म्लेच्छराजानः प थिव्या मनुजाधिपाः।

मिथ्यानुशासिनः पापा म षावादपरायणाः।।

आन्ध्राः शकाः पुलिन्दाश्च यवनाश्च नरधिपाः।

काम्बोजा और्णिका लुब्धस्तथाभीर नरोत्तम।।

इन जातियों को महाभारतकार ने कलियुग शासन करने वाली जातियां कहा है। महाभारत युद्ध में इन विभिन्न जातियों ने कौरवों की ओर से युद्ध किया था। हलायुध ने किरात, शबर, पुलिन्द आदि वन्यजातियों की गणना शूद्रों में ही की है। यह वस्तुतः समस्त प्रजातियों, जातियों और उपजातियों को परम्परागत वर्ण-व्यवस्था में स्थान देने का प्रयास था। किन्तु महाभारत के अनुसार ये मूलतः क्षत्रिय थे किन्तु ब्राह्मणों के शाप से व षल हो गए।

महाभारत में उक्त जातियों के अतिरिक्त प्रजातियों एवं संघाश्रित जातियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है।। सभापर्व में कायव्य, दरद, दार्व, शूर, यमक औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, वाल्हिक, काश्मीर, कुन्दमान, पौरक, हप्तकायन, शिवि त्रिगर्त, यौधेय, भद्र, कैकय अम्बष्ठ, कौकुर, ताक्ष्र्य वस्त्रप, पह्लव, वशातल, मौलेय, क्षुद्रक, मालव, शौण्डिक, कुक्कुर, शक, अंग, बंग, पुण्ड्र, शाणवत्य आदि को उत्तम कुल में उत्पन्न शस्त्रधारी क्षत्रियों की संज्ञा दी गयी है। इन प्रजातियों के प्रतिनिधियों ने राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठर को बहुत सा द्रव्य अर्पित किया था। दूसरी ओर भीष्म पर्व में अंग, बंग, कलिंग, यकृल्लोमन, मल्ल, सुदेष्ण, वाहीक, वाटधान आभीर, कालतोय पहलव आदि जातियों को शूद्र कहा गया है। विविध धर्मसूत्रों तथा मनुस्म ति ने भी इन प्रजातियों को शूद्रों की कोटि में रखा है। इन प्रजातियों को महाभारत में क्षत्रिय भी कहा गया है। महाभारत के परस्पर विरोधी कथन इस तथ्य की ओर स्पष्ट ही इंगित करते हैं कि महाभारतकाल में एक नया आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था, जिसका लक्ष्य शूद्रों की स्थिति को उन्नत बनाते हुए इन्हें अनेक सामाजिक धिकार प्रदान करना था।

महाभारत में ऐसी अनेक आयुधजीवी जातियों का उल्लेख है, जो किसी न किसी संघ, गण अथवा निकाय के शासन में रहती थीं। अतः उन जातियों का नाम भी उन-उन संघों के नाम पर पड़ा। सुविधा की द ष्टि से इन जातियों को हम 'संघाश्रित जातियां' कह सकते हैं।

संघाश्रित जातियों के अन्तर्गत व्रात अनेक द ष्टियों से उल्लेखनीय हैं। महाभारत में दार्वाभिसार और

दरद जनपद के निवासियों को व्रात नाम से सम्बोधित किया गया है। पाणिनि ने 'व्रातेन जीवन्ति व्रातीनः' यह विशेष शब्द व्युत्पन्न किया है। यहां 'व्रात' का अर्थ उत्पीड़न अथवा लूटमार है, जैसे कि महाभाष्य में कहा गया है—'नानाजातीया अनियतव त्तयः उत्सेधजीविनाः संघा व्राता।- वासुदेवशरण अग्रवाल ने ''व्रात'' और श्रोत सूत्रों में उल्लिखित ''व्रात्य'' को अभिन्न माना है। इन व्रात्यों को वर्णाश्रम धर्म में दीक्षित करने के प्रयत्न भी किए जाते थे। व्रात्यस्तोम नामक यज्ञ का विधान इसी तथ्य का द्योतक है। कात्यायन के अनुसार व्रात्यस्तोम से यजन करने पर व्रात्यभाव छूट जाता है। इस प्रकार के यजन के पश्चात् आर्यों के साथ उनका सामाजिक व्यवहार खुल जाता था।

व्रात्यों के इस प्रकार के आर्यीकरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समाज में विदेशियों को भी भारतीय वर्णाश्रम में दीक्षित करने की प्रथा विद्यमान थी। विदेशियों को भी विशिष्ट प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान के द्वारा वर्णाश्रम संस्था का अंग बना दिया जाता था। हूणों में भी ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय वर्ण का अस्तित्व इस तथ्य की पुष्टि करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि काल की प्रवहमानता के साथ विदेशी शनैः-शनैः भारतीय वर्णाश्रम-मर्यादा में सहजभाव से विलीन हो जाते थे। अन्धकव ष्णि संघ के विषय में कृष्ण का यह कथन कि 'हमारे कुल-संगठन में अभी तक अठारह सहस्र व्रात्य है'— इस तथ्य की पुष्टि करता है कि व्रात्यों अथवा विदेशियों को वर्णाश्रम-धर्मप्रधान समाज में परिग हीत करने के लिए यजन अथवा अन्य धार्मिक अनुष्ठान अनिवार्य नहीं था। यह तो उपचार मात्र था, जिसका प्रयोग कभी-कभी किया जाता था।

आयुधजीवी जातियों में व्रात्य के अतिरिक्त पूग और श्रेणि भी उल्लेखनीय हैं। पूग नामक आयुधजीवियों का निवास सिन्धु-नद के दोनों तटवर्ती प्रदेशों में था। जीवन-स्तर की द ष्टि से व्रात्य और पूग—ये श्रेणि की अपेक्षा निम्न कोटि के थे। ये दोनों अपनी आजीविका के लिए प्रायः लूटमार एवं उत्पीड़न पर निर्भर थे। श्रेणि-समूह के लोग अपना निर्वाह कृषि तथा पशुपालन द्वारा करते थे। महाभारत में दुर्योधन की ओर से युद्ध करने वालों में अनेक श्रेणियों का उल्लेख है, जिनके सदस्यों की संख्या हजारों में थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत में अनेकानेक जातियों एवं प्रजातियों के अतिरिक्त संघाश्रित जातियों का भी उल्लेख है, जिनमें व्रात, पूग, श्रेणि और ग्रामणी ये चार विशेष महत्वपूर्ण हैं। ये प्रादेशिक जातियां यथावसर शस्त्र-धारण करती थीं और श्रेणिबद्ध होकर अपने-अपने व्यवसाय में संलग्न थीं।

आश्रम व्यवस्था

आश्रम शब्द मूलतः संस्कृत की श्रम धातु से निष्पन्न है। वह स्थान जहां श्रम या प्रयत्न किया जाता है। दूसरे अर्थ में आश्रम वह स्थान है जहां इष्ट प्राप्ति के निमित्त जीवन यात्रा में एक निश्चित अवधि तक विश्राम करने के उपरांत पुनः आगे बढ़ना पड़ता है। इस प्रकार आश्रम, मानवजीवन के चरम उद्देश्य मोक्ष की यात्रा में विश्राम के स्थान हैं। महर्षि व्यास के कथनानुसार 'जीवन की चार अवस्थाएं (ब्रह्मचर्य, ग हस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास) एक सोपान की भांति हैं। यह सोपान मनुष्य को ब्रह्म की ओर ले जाता है, इस पर चढ़कर वह ब्रह्म के प्रदेश में प्रवेश कर जाता है। जीवन को ब्रह्मचर्य, ग हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार अवस्थाओं में विभक्त करने वाले इस आश्रम सिद्धांत का प्रादुर्भाव किस समय हुआ? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। प्रो॰ डासन का विचार है कि आश्रम का गठन छांदोग्य उपनिषद् के समय में निर्माणावस्था में था। जिसमें ब्राह्मण, विद्यार्थी और ग हस्थ का वर्णन आया है। प्रो॰ रांयस डेविड्स का मत है कि चार आश्रम-बुद्ध और बौद्ध पिटकों के पश्चात् प्रचलित हुए क्योंकि पिटकों में इनका उल्लेख नहीं है। वे यहां तक कहते हैं कि चार आश्रमों के नाम भी प्राचीनतर उपनिषदों में नहीं पाये जाते। 'ब्रह्मचारिन्' शब्द कई स्थानों पर शिष्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। और दो-तीन स्थलों पर 'यति' शब्द संन्यासिन के अर्थ में आया है पर ग हस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु का कोई उल्लेख नहीं। हां, इन चार आश्रमों का प्रथम प्रयोग गौतम व आपस्तम्ब

की विधि संहिताओं में मिलता है किन्तु यहां भी उनके व्यवस्थित स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। दूसरी और प्रो॰ जैकोबी प्रभ ति विद्वान् ने जैन सूत्रों के अनुवाद की प्रस्तावना में यह स्वीकार किया है कि चार आश्रमों का निर्माण जैन और बौद्ध मतों से पूर्व ही सम्पन्न हो चुका था, नरेन्द्र नाथ झा ने भी प्रमाण सहित जैकाबी के इस मन्तव्य का समर्थन किया है। प्राचीनतर उपनिषदों के समय तक आश्रम व्यवस्था के गुणधर्म भी निर्धारित हो चुके थे। अधिकांश विद्वानों का प्रायेण मत यही है कि उपनिषद् काल तक आश्रम बोधक भावना की आधारभित्ति निर्मित हो चुकी थी।

जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का प्रयोजन समाज में कार्यो का विभाजन था, उसी तरह आश्रम-व्यवस्था का प्रयोजन जीवन-पद्धति का निरूपण था।

जीवन-पद्धति को वैविध्यपूर्ण एवं अवस्थानुकूल बनाने हेतु तथा जीवन से एकसरता दूर करने के लिए और व्यक्ति के माध्यम से समाज के सर्वांगीण विकास के लिए भारतीय धर्मशास्त्रों ने जीवन को चार भागों में विभाजित किया है—'शतायुरुक्तः पुरुषः', आयुषस्तु चतुर्भागां। एतदनुसार चार आश्रमों का विधान अवस्थानुक्रम से किया गया है—ब्रह्मचर्य, ग हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम। बौधायन, गौतम, वसिष्ठ, मनु आदि सभी ने इस क्रम से आश्रम-चतुष्टय का उल्लेख किया है।

इन आश्रमों के पालन के विषय में जाबालोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मचारी के बाद ग हस्थ, ग हस्थ के बाद वानप्रस्थी और वानप्रस्थी के बाद परिव्राजक या भिक्षु बनना चाहिए। यह एक साधारण क्रम था जिसका पालन अधिकांश लोग करते थे। इस क्रम का उल्लंघन भी पाया जाता हे। अनेक लोग ब्रह्मचर्य के बाद सीधे वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते थे, किन्तु यह व्यतिक्रम श्लाघ्य नहीं माना जाता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम चारों आश्रमों में प्रथम आश्रम है। इस आश्रम के अन्तर्गत आयु के प्रथम चरण में व्यक्ति को विद्या के अर्जन का अवसर प्राप्त होता था। वस्तुतः आयु के इस प्रथम चरण में व्यक्ति अपनी भावी लोकयात्रा की तैयार करता था।

यह वह काल था जिसमें ब्रह्मचारी साधना एवं संयम का, जप-तप का जीवन बिताते हुए अपने व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में लगा रहता था। इस आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी को अनेक विधि-निषेधों का पालन करना पड़ता था। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार समिध-संग्रह एवं भिक्षा-व त्ति प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए अनिवार्य थी। ब्रह्मचारी के लिए खाट पर सोना, गाना, नाचना इतस्ततः निष्प्रयोजन घूमना, थूकना आदि वर्जित था अथर्ववेद का कथन है कि ब्रह्मचारी अपनी मेखला, समिध एवं श्रमशीलता से संसार को तपोमय कर देता हे। वह कृष्णाजिन पहनता है और दाढ़ी रखता है।

महाभारत में ब्रह्मचारी के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं। आश्वमेधिक पर्व में ब्राह्मण अपनी पत्नी को ब्रह्मचारी की परिभाषा इस प्रकार बताता है—

ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः।

अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः।

ब्रह्मभूतश्चंरल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम्।।

अर्थात् इन्द्रिय संयम में प्रव त्त रहने वाला पुरुष सदैव ब्रह्मचारी है। जो ब्रह्म से भिन्न व्रत और कर्मों त्याग कर केवल ब्रह्म में स्थित है तथा ब्रह्मस्वरूप होकर संसार में जो विचरता है वही ब्रह्मचारी है।

ब्रह्मचारी की परिभाषा करने के पश्चात् अगले श्लोकों में उस ब्राह्मण के मुख से ही महाभारतकार ब्रह्मचर्य के स्वरूप को प्रकट कराते हुए लिखते हैं—

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसम्भवः।

आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः।।

एतदेवेद शं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः।

अर्थात् ब्रह्म ही उसकी समिधा है। ब्रह्म ही अग्नि है। ब्रह्म ही जल है। ब्रह्म ही उसका गुरु है। उसकी चित्तव त्तियाँ सदैव ब्रह्म में लीन रहती हैं। इसी को विद्वानों ने सूक्ष्म ब्रह्मचर्य कहा है।

उपर्युक्त श्लोकों में ब्रह्मचारी और उसके व्रत ब्रह्मचर्य का जो स्वरूप स्पष्ट हुआ है उससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्म अर्थात् विद्या (वेद, ज्ञान) से बढ़कर और कोई व्रत या कर्म नहीं था। उसके समस्त व्रत और कर्म विद्यार्जन को ही समर्पित होते थे। उसे अपने भोजन वस्त्रादि के अर्जन के लिए किसी अन्य श्रम की आवश्यकता नहीं थी। उसके समस्त व्रत, कर्म और श्रम तो विद्या और विद्यादाता गुरु को ही समर्पित थे। ब्रह्मचारी को इन्द्रिय संयम पूर्वक अपना समस्त सामर्थ्य विद्या के अर्जन में ही लगाना होता था।

ग हस्थाश्रम

आश्रम व्यवस्था के क्रम में द्वितीय किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग ह आश्रम है। इस आश्रम को धर्मशास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। महाभारत में रूपकों के माध्यम से इस आश्रम की सर्वोपरिता पर प्रकाश डाला गया है। यथा— वेदों के ज्ञाता मनीषियों ने एक समय चारों आश्रमों को तुला पर रखकर तोला था जिसके एक पलड़े पर ग हस्थाश्रम था और दूसरे पलड़े पर शेष तीन आश्रम जिस पर भी यह गुरुतर सिद्ध हुआ। जिस प्रकार सागर नद-नदियों का अंतिम आश्रय स्थल है उसी प्रकार ग हस्थाश्रम भी अन्य आश्रमों का आश्रयदाता व पोषक है। इसके अभाव में समाज निर्जीव और जड़ हो जाता है और जिस समाज में अच्छे ग हस्थ न हों उससे अधिक दुर्भाग्यशाली और कोई दूसरा समाज नहीं। जिस प्रकार सारे जीव माता का आश्रय लेकर जीवन-यापन करते हैं वैसे ही ग हस्थाश्रम का अन्य आश्रम आश्रय लेते हैं। गुरुकुल निवासी ब्रह्मचारी, व्रत, नियम तथा धर्म का पालन करने वाले वानप्रस्थी और सर्वत्र विचरने वाले संन्यासी इसी आश्रम से भिक्षा, दान आदि पाकर अपने धर्म पालन में प्रव त्त रहते हैं।

ग हस्थाश्रम के तीन प्रमुख विधान हैंः पंच महायज्ञ, पंच दक्षिणा यज्ञ और ऋण चतुष्ट्य से निव त्ति। इनकी निव त्ति के लिए ग हस्थ उस प्रव त्ति धर्म को अंगीकार करता है जिसकी छत्रछाया में उसे धनोपार्जन करना पड़ता है। ऐसे उपार्जित द्रव्य के तीन भाग होते हैं। ग हस्थ पहले भाग को धर्म और अर्थ सिद्धि के लिए व्यय करता है, दूसरे भाग का उपभोग वह अपनी आवश्यकताओं के लिए करता है और तीसरे भाग को वह परिवार संचालन के लिए भविष्य निधि के रूप में संचित करता जाता है। पंच यज्ञ के अन्तर्गत आते हैं ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, पित यज्ञ, भूत यज्ञ और न यज्ञ। अध्ययन ब्रह्म यज्ञ कहलाता है। होम देव यज्ञ है। तर्पण पित यज्ञ है। जीवों को बलि अर्थात भोजन देना भूत यज्ञ है और अतिथि सत्कार न यज्ञ है।

प च दक्षिणा यज्ञ अतिथि सत्कार से सम्बद्ध हैं। अतिथि के लिए पैर धोने के लिए जल, बैठने के लिए आसन, प्रकाश के लिए दीप आदि, भोजन के लिए अन्न और ठहरने के लिए स्थान। ये पाँच दक्षिणा यज्ञ कहे गये हैं।

ऋणचतुष्टय से मुक्त होना भी ग हस्थियों का मुख्य कर्त्तव्य है। वे चार ऋण हैं—

पित ऋण, देव ऋण, ऋषि ऋण और मनुष्य ऋण। पुत्र प्राप्ति से पित ऋण पूर्ण होता है। यज्ञों द्वारा देवताओं को त प्त करके मनुष्य देव ऋण से उऋण होता है। स्वाध्याय और तपस्या द्वारा ग हस्थ ऋषि ऋण को पूर्ण करता है तथा अतिथि सत्कार द्वारा ग हस्थ मनुष्य ऋण से उऋण होता है।

उपर्युक्त प च महा यज्ञ तथा प च दक्षिणा यज्ञ वस्तुतः ऋणचतुष्टय से मुक्त होने के साधन हैं।

इसके अतिरिक्त महाभारत के अनुसार अपनी ही स्त्री पर-प्रेम रखना, सदा सत्पुरुषों के आचार का पालन करना और जितेन्द्रिय होना ग हस्थ के लिए परम आवश्यक है।

इस द ष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ग हस्थाश्रम की महत्ता केवल श्रेष्ठ आश्रम के रूप में अन्य आश्रमों को साधने वाले आश्रम के रूप में बढ़ा-चढ़ाकर नहीं बताई गई है न ही ग हस्थ की झूठी प्रशंसा में कुछ कहा गया है। इस आश्रम की प्रशंसा में यह विचार भी व्यक्त किया गया है कि जो ग हस्थ, ग हस्थाश्रम के समस्त कर्त्तव्य निभाता है उसे अन्य आश्रमों में प्रवेश करने की चिंता नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह इसी आश्रम में अर्जित पुण्य से स्वर्ग प्राप्त कर लेगा।

वानप्रस्थाश्रम

व द्धावस्था में उचित अवसर पर ग हस्थ का वन की ओर प्रस्थान ही वानप्रस्थ है। इस परियोजना के प्रारंभिक संकेत उपनिषदों के पूर्व ब्राह्मणों में भी ढूंढे गये हैं। सांसारिक बंधनों से विरक्ति की भावना संस्कृति के दार्शनिक चिंतन उपनिषदों के रचना काल से ही प्रबल थी जबकि लोग दारैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि को छोड़कर यति जीवन की कामना करते थे। इस आश्रम के उपयुक्त अवसर के विषय में व्यास का मत है कि 'ग हस्थ जब देखे कि उसके केश श्वेत हो चुके हैं, शरीर में झुर्रियां पड़ गई हैं। और पुत्र के भी पुत्र हो चुके हैं तो वह वन की शरण लें। मनु का भी यही विचार है। ब्रह्मा ने महर्षियों को यह गुह्य रहस्य समझाया है कि ग हस्थ, व द्धावस्था में संस्कारों से शुद्ध होकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए, ग ह के ममत्व को त्याग ग्राम से निकल कर वन में निवास करे। वानप्रस्थी वन को ही अपना सर्वस्व समझता था और उसे ग हस्थ की भांति अग्निहोत्र और पंचममहायज्ञादिक अनुष्ठान संपन्न करने के अधिकार भी मिले थे वानप्रस्थ द्वन्द्व का जीवन था-प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध व्यक्ति के मनोबल के द्वन्द्व का। वर्षा में खुले मैदान में सोना, शीत में रात्रि को जल में बैठना, ग्रीष्म में पंचाग्नि का सेवन-ये ही वानप्रस्थी के कृत्य थे। ययाति ने वानप्रस्थ के धर्म पालन को सरलता, समाधि और श्रेष्ठ आचरण वाला जीवन कहा है। ग हस्थ से भिन्न वानप्रस्थी की चार भिन्न जीविका व त्ति हैं, व्यास के शब्दों में ये सद्य संचय, मासिक संचय, वार्षिक संचय और द्वादश वर्षीय संचय। अनुशासन पर्व में व्रत, तप व स्वाध्याय में सपत्नीक सलंग्नसमाधिस्थ, तीर्थाटन करने वाले, उपवास द्वारा शरीर को कृश करने वाले, काम, क्रोधरहित, क्षमा, कपोत व त्ति को अपनाने वाले जल और वायु के सेवन से ही जीवित रहने वाले और पशुओं के साथ रहने वाले, शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों से रहित, सत्यवादी, धर्मज्ञ और अपने तपोबल से संसार को स्थित रखने वाले, सम्यक सिद्ध यायावर, चक्रधारी या शाकरिक और वैखानस प्रभ ति वानप्रस्थियों का उल्लेख मिलता है। काम-क्रोध पर विजय प्राप्त कर, सभी आर्ष धर्मों में इन्द्रिय द्वारा आत्म बोध प्राप्त कर ईश्वर साक्षात्कार के ध्येय से ही ग हस्थ का इस आश्रम में प्रवेश अनिवार्य माना गया था।

संन्यासाश्रम

वानप्रस्थी और संन्यासी दोनों के लिए मनु ने प्रारंभिक साहित्य की भांति मुनि शब्द का ही प्रयोग किया है। सर्वकाम होकर केवल ब्रह्म का चिंतन करने वालों को उपनिषदों में ब्रह्मसंस्थ कहा गया है। महाभारत में संन्यासाश्रम में प्रवेश करने वालों के विषय में कहा गया है कि वे अग्निहोत्र, धन, स्त्री, परिवार के प्रति विमुख हो जाते हैं। धर्म, अर्थ और काम में भी प्रव त्ति नहीं होती। शत्रु मित्र और जगत् के समस्त प्राणियों के प्रति उनका समभाव होता है वे कहीं भी स्थायी निवास नहीं करते तथा सर्वत्र विचरते हैं। विजातियों से प्राप्त भिक्षा से ही उदर पूर्ति कर संतुष्ट हो जाते हैं। संन्यासी के लिए दो बातें पर्याप्त थीं-नग्नता को ढ़ांकने के लिए वस्त्र और प्राण रक्षा मात्र के लिए अन्न। वानप्रस्थी तो संचय भी कर सकता था किन्तु संन्यासी के लिए समस्त संचय प्रतिबंधित थे क्योंकि संचय से इच्छाएं उद्दीप्त होती हैं। अतः जैसे कछुआ अपने समस्त अंगों को समेट लेता है वैसे ही

संन्यासी को भी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर संपूर्ण तत्वों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। संन्यासी से न तो जीवन के अभिनंदन की आशा की जाती है और न म त्यु के भय के शोक। जिस प्रकार सेवक स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है उसी प्रकार संन्यासी को काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए। नैतिक आचरण के सारे नियम जो हिंसा और कामना से युक्त हैं संन्यासी के लिए वर्जित थे वह न ऐसे लौकिक कर्म स्वयं कर सकता था और न दूसरों से करवा सकता था। महाभारत में संन्यासी द्वारा आत्महत्या को नैतिक माना गया है। शांतिपर्व में कहा गया है कि संन्यासी अग्नि में प्रवेश कर पहाड़ से कूद कर महायात्रा में गलकर प्राण त्याग कर सकता है।

आपस्तम्ब ने संन्यासी का एकमात्र गुण मौन चिंतन माना था। महाभारत में भी संन्यासी के लिए मौन भाव, रोग से मुक्ति दिलाने वाली एक औषध मानी गई है। किन्तु उद्योग पर्व में एक विरोधी स्वर भी सुनाई पड़ता है कि मौन रहने अथवा जंगल में निवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता ही श्रेष्ठ मुनि है। अनुशासन पर्व में कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस इन चार कोटियों के संन्यासियों का उल्लेख आया है जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठता क्रम में महान् हैं। महाभारत के अनेक पर्वों में ब्रह्मत्व प्राप्ति को संन्यासाश्रम का एकमात्र लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इस आश्रम का दूसरा नाम क्षेमाश्रम (कल्याण प्राप्ति का स्थान) भी है।

महाभारतकालीन आश्रम व्यवस्था की समीक्षा से यह ज्ञात होता है कि जीवन के इन चार आश्रमों में समाज और व्यक्ति के कर्त्तव्य परस्पर भिन्न एवं पर्व निश्चित हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में समाज का कर्त्तव्य है कि वह अपने शिक्षारत स्नातकों की देखरेख करे और स्नातक के लिए यह सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन से तटस्थता का काल है। दूसरे ग हस्थाश्रम में व्यक्ति को समाज और राज्य की देखभाल करनी पड़ती है वह निसंग जीवन नहीं बिता सकता क्योंकि वह समाज का न्यासी और प्रबंधक है और पंच महायज्ञ, पंच दक्षिणयज्ञ, पुरुषार्थ त्रिवर्ग एवं ऋण चतुष्टय के लिए उत्तरदायी है। इस स्थिति में समुदाय का भी यह कर्त्तव्य है कि व्यक्ति को पूर्ण सामाजिक, आर्थिक, दैहिक तथा आत्मिक विकास के अवसर के साथ ही व्यक्ति से वैसा अवसर प्राप्त करे ताकि वह अपने उपर्युक्त कर्त्तव्यों को निभा सके। तीसरे वानप्रस्थाश्रम को व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए तटस्थता का युग माना जाता है। तीसरा और एक सीमा तक चौथा संन्यासाश्रम व्यक्ति से यह अपेक्षा करता है कि ब्रह्म के विषय में चिंतन करें। समूह के प्रति व्यक्ति का कर्त्तव्य विरल होता है जबकि चौथे आश्रम में व्यक्ति जोकि अपने सामाजिक कर्त्तव्यों से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है उसका एक मात्र ध्येय रहता है आत्म चिंतन और ब्रह्म ज्ञान।[६८]

आधुनिक जीवन की सामाजिक व्याधि के कारण वानप्रस्थ और संन्यास ये दो आश्रम उस सांस्कृतिक विचारधारा से कट गये हैं जिसने कभी जीवन को चार भागों में वर्गीकृत कर उसके आत्मिक और भौतिक पक्षों में संतुलन स्थापित किया था किन्तु ऐसा इस युग में ही हुआ हो ऐसा नहीं था। पुराणों ने भी शरीर के प्रति उपेक्षा भाव तो अपनाया अवश्य परंतु वानप्रस्थ की बढ़ती हुई जटिल नियमपरकता ने ग हस्थ के बढ़ते कदमों को वहीं रोक दिया। महाभारत काल में 'ब्रह्मचारी', ग हस्थ, वानप्रथी और संन्यासी यदि निष्ठापूर्वक अपने धर्म का पालन करें तो वे मोक्ष को प्राप्त होंगे, यह एक निवेदन मात्र रह गया। यद्यपि उस काल में 'आश्रम द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी के लिए अधिकारों का स्थानांतरण आसानी से हो जाता था परंतु सभी लोग आदर्शवादी नहीं थे और बहुत से लोग अवकाश प्राप्ति के समय भी शक्ति और सांसारिक आनंद से चिपके रहते थे।

विवाह एवं परिवार

भारत में वैदिक काल से ही समाज में विवाह और उस पर आधारित परिवार जैसे सामाजिक संस्था का विकास हो चुका था। महाभारत में विवाह इतना महत्त्वपूर्ण पवित्र धार्मिक अनुष्ठान माना गया है कि उसका प्रथम अध्याय विवाह की अपरिहार्य आवश्यकता के वर्णन से आरंभ होता है।

बहुत से विद्वानों की द ष्टि में महाभारत पूर्व समाज में कामाचार विद्यमान था। महाभारतकाल में भी

कामाचार और उसके लुप्त होते हुए प्रभाव का प्रकाशन करने के लिए वे विद्वान् प्रायशः अधोलिखित तीन कथाओं का आश्रय लेते हैं।

पहली कथा के अनुसार शापग्रस्त रोगी पाण्डु ने जब वंश की रक्षा के लिए अपनी पत्नी कुन्ती को किसी पर-पुरुष के साथ समागम (नियोग) द्वारा संतान उत्पन्न करने को कहा तो कुन्ती ने कातर होकर उसे पाप कहा। तब पाण्डु ने उन्हें यह कहकर आश्वस्त किया कि प्राचीन काल में स्त्रियां निर्वस्त्र होकर इच्छानुसार रमण करती थीं। उनका यह स्वैराचार सामाजिक दोष न होकर युगधर्म के रूप में निहित था। कुरु में ऋषियों द्वारा अनुमोदित यह प्रथा अभी भी प्रचलित है।

दूसरी कथा के अनुसार जब एक अज्ञात कुल वाला ब्राह्मण श्वेतकेतु की माता को उनके पिता की उपस्थिति में ही कहीं ले गया और पिता ने आक्षेप करने की अपेक्षा रूष्ट पुत्र को निर्लिप्त भाव से यह समझाया कि स्त्रियाँ तो गाय की भांति स्वैराचारिणी होती हैं— क्रोध व दुख से अभिभूत श्वेतकेतु ने तत्काल यह नियम बनाकर विवाह को सामाजिक गरिमा प्रदान की कि 'आज से कोई स्त्री पुरुष स्वच्छन्दाचरण को प्रश्रय नहीं दे पाएंगे। इस नियम का उल्लंघन करने वाले भ्रूण हत्या के भागी होंगें।

तीसरी कथा के अनुसार परस्त्री में आसक्त जन्मांध ऋषि दीर्घतमा के आचरण से रूष्ट होकर जब उनकी पत्नी प्रद्वेषी ने उन्हें व उनके पुत्रों को ठुकरा दिया तब दीर्घतमा ने नियम बनाया कि कोई भी नारी एक ही पति पर आजीवन आश्रित रहेगी। पति के जीवित रहने या म त्यु के अनंतर अन्य पुरुष का आश्रय लेने वाली स्त्री सामाजिक निन्दा की पात्र होगी। पतिहीना नारी तो समस्त उपभोगों एवं ऐश्वर्यों से वंचित हो जावेगी।

उपर्युक्त कथाओं के प्रंसंग और सन्दर्भ पर विचार करके डा॰ नत्थूलाल गुप्त अपने ग्रन्थ महाभारतः एक समाजशास्त्रीय अनुशीलन में लिखते हैं कि ये कथानक नियोग के औचित्य को सिद्ध करने के लिए गढ़े गये हैं जो कि सर्वथा काल्पनिक प्रतीत होते हैं।

महाभारत के आदि पर्व में कहा गया है कि स ष्टि के आदिकाल में ही स्वयंभू मनु ने आठ प्रकार के विवाहों की व्यवस्था की। ये हैं— ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गंधर्व, राक्षस व पैशाच।

अष्टविध विवाह का उल्लेख महाभारत में परम्परा पालन के रूप में परिलक्षित होता है। व्यवहार में पंचविध विवाहों का ही प्रचलन था— ब्राह्म, क्षात्र, गन्धर्व, पैशाच और आसुर। इन पंचविध विवाहों में से तीन (ब्राह्म, क्षात्र और गान्धर्व) को प्रशस्त और दो (पैशाच तथा आसुर) को अप्रशस्त माना गया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि धर्मसूत्रकारों ने क्षात्र विवाह का उल्लेख नहीं किया, किन्तु महाभारत में क्षात्र विवाह का उल्लेख प्रशस्त विवाह के रूप में किया है। सूत्रकारों ने आठ प्रकार के विवाहों को दो भागों में विभक्त किया है— प्रशस्त तथा अप्रशस्त। प्रथम चार प्रकार प्रशस्त हैं और शेष अप्रशस्त। इन आठ प्रकारों में प्रथम सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। इसीलिए उसे ब्राह्म की संज्ञा दी गई। पांचवे (असुर) तथा छठवें (गान्धर्व) को भी समाज किसी तरह सह लेता था, किन्तु अन्तिम दो-राक्षस तथा पैशाच-नितान्त गर्हित थे। भारतीय विवाह-संस्था के इतिहास में आठों प्रकार के विवाहों को कभी प्रशस्त नहीं माना गया। महाभारत-काल में इन आठों का अस्तित्व रहा होगा। अतः सिद्धान्तः उनका नाम-निर्देश किया गया है, किन्तु प्रचलन की द ष्टि से उपर्युक्त पांच प्रकार ही मुख्य माने जाते थे।

विवाह की इन आठ पद्धतियों के विषय में दुष्यंत और भीष्म के विचारों में मौलिक अंतर है वर्ण और धर्म का। वर्ण भेद के अनुसार विवाह प्रकार का विभाजन करते हुए दुष्यंत ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्राह्म, दैव, आर्ष एवं प्राजापत्य ये विवाह ब्राह्मणों के लिए प्रशस्त हैं। क्षत्रियों के लिए इनके अतिरिक्त राक्षस और गांधर्व भी प्रशस्त माने गये हैं। वैश्य और शूद्र असुर विवाह भी कर सकते हैं किन्तु पैशाच विवाह का समर्थन शास्त्रानुमोदित नहीं है। भीष्म अष्टविध विवाह की मीमांसा न करते हुए केवल पांच पद्धतियों, ब्राह्म, प्राजापत्य, गांधर्व, आसुर और राक्षस का उल्लेख करते हैं।

इनमें पूर्व कथित क्रमशः तीन विवाहों को उन्होंने धर्मानुकूल कहा है और शेष दो को निकृष्ट। उनकी इस उक्ति से कि ब्राह्म, प्राजापत्य (क्षत्र) तथा गांधर्व ये तीन धर्मानुकूल विवाह प थक् हों या मिश्रित करने योग्य हों इसमें संशय नहीं, यह आशय निकलता है कि उन्होंने महाभारत और स्म तिकथित दैव और आर्ष का ब्राह्म के अन्तर्गत समावेश कर लिया है। संभवतः इसी प्रकार असुर व राक्षस में उन्होंने पैशाच का अन्तर्भाव किया है।

ब्राह्म विवाह

किसी सुयोग्य वर को अपने घर आमन्त्रित करके विधिपूर्वक उसे अपनी अलंकृत कन्या अर्पित करना ब्राह्म विवाह कहलाता है। वयस्कावस्था में सम्पन्न ब्राह्म विवाह में कन्या की सम्मति आवश्यक होती थी।

आर्ष

मनु के अनुसार वर से एक अथवा दो गाय-बैल की जोड़ी लेकर विधिवत् कन्यादान को आर्ष विवाह कहते हैं। महाभारत ऐसे विवाह का निषेध करता है। महाभारत के अनुसार शुल्क न्यून हो अथवा अधिक आखिर वह शुल्क ही है। एक प्रकार से यह कन्याविक्रय ही है, जो कि निन्द्य है—

आर्षे गोमिथुन शुंल्कं केचिदाहुर्म षैव तत्।

अल्पं वा बहु वा राजन् विक्रयस्तावदेव सः।।

आसुर—

मनु के अनुसार कन्या के घरवालों तथा कन्या को धन देकर स्वतन्त्रतापूर्वक किए गए विवाह को आसुर विवाह कहते हैं। इसमें एक प्रकार से कन्या का विक्रय होता है। इसलिए मानव-ग ह्यसूत्र में इसे शौल्क विवाह भी कहा है। आर्ष विवाह को इसी का परिवर्तित अथव अवशिष्ट रूप कह सकते हैं, जिसका कि महाभारत में निषेध किया गया है।

महाभारत से विदित होता है कि भीष्म ने कुरु राजकुमारों के लिए क्रय द्वारा पत्नियां प्राप्त की थीं। एक बार जब वे शल्य के पास इस उद्देश्य से पहुंचे तो शल्य बड़े असमंजस में पड़ गए, किन्तु परिस्थिति की गम्भीरता के कारण कन्या-शुल्क मांगने की इस प्रथा को समाप्त करने का साहस उनमें न था। महाकाव्य के इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि जनमत इस प्रथा के पक्ष में नहीं था। कन्या-शुल्क की खुलकर निन्दा की गई है। महाभारतकार का आदेश है कि भार्या का क्रय अथवा विक्रय किसी भी प्रकार न होना चाहिए। जो भार्या को दासी की भांति खरीदते अथवा बेचते हैं, उन पापात्मा लोभी लोगों में ही इस प्रकार के क्रय-विक्रय का निर्णय होता है—

न चैव भार्या क्रेतव्या विक्रेतव्या कथंचन।

ये च क्रीणन्ति दासीवत् विक्रीणन्ति तथैव च।

भवेत्तेषां तथा निष्ठा लुब्धानां पापचेतसाम्।।

उपर्युक्त कथन इस तथ्य का ख्यापक है कि समाजसुधारकों के तीव्र आन्दोलन के फलस्वरूप इस कुप्रथा का क्रमशः लोप होने लगा था। शल्य-भीष्म संवाद से भी यही बात स्पष्ट होती है। शल्य सिद्धान्ततः कन्या-शुल्क के पक्ष में नहीं है, किन्तु कुल परम्परा के पालनार्थ वे अपनी बहन माद्री के विवाहावसर पर अत्यन्त संकोच के साथ भीष्म से विक्रय-मूल्य मांगते हैं। संभवतः ऐसे ही रूढ़िप्रिय लोगों के समाधान के लिए व्यवस्थाकारों ने मध्यम-मार्ग के रूप में 'एकं गोमिथुनं द्वे वा' का औपचारिक विधान किया, जिसकी परिणति आर्ष विवाह के रूप में हुई।

गान्धर्व-

गान्धर्व तथा राक्षस ये दोनों सम्मिलित रूप से अथवा प थक्-प थक् क्षत्रियों के लिए धर्मानुमोदित कहे गए हैं। इतना ही नहीं कण्व ने क्षत्रिय के लिए गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ बताया है। उनके अनुसार

परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुषों का एकान्त में बिना मन्त्र का विवाह गान्धर्व विवाह समझा जाता है—

क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते।

सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रों रहसि स्म तः।।

शकुन्तला-दुष्यन्त का विवाह इसी प्रकार का है। आधुनिक शब्दावली में इसे 'प्रेम विवाह' अथवा 'प्रणय-विवाह' कहा जा सकता हैं इस प्रकार के विवाह में वर-वधू दोनों की यौवनावस्था अपेक्षित होती है।

राक्षस

महाभारत के अनुसार कन्या-पक्ष के लोगों को मार-काट तथा घायल करके रोती-चिल्लाती कन्या को बरबस हरण करने को राक्षस विवाह कहते हैं—

हत्वा छित्वा च शीर्षाणि रुदतां रुदतीं ग हात्।

प्रसह्य हरणं तात राक्षसं धर्मलक्षणम्।।

विशुद्ध राक्षस प्रकार के विवाह का उदाहरण महाभारत में नहीं है, किन्तु स्वयंवर-मिश्रित राक्षस का उदाहरण अवश्य मिलता है। ऐसे विवाह को राजाओं के लिए अत्यन्त गौरवास्पद बताया है। भीष्म द्वारा काशिराज की कन्याओं (अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका) का उनके स्वयंवर में से अपहरण इसी प्रकार का उदाहरण है। अर्जुन-सुभद्रा-विवाह भी इसी कोटि में रखा जा सकता है।

पैशाच

किसी सोयी हुई मदिरा पीकर मतवाली एवं पगली कन्या को पकड़ ले जाकर एकान्त में किए गए विवाह को पैशाच विवाह कहते हैं। मनु ने अष्टविध विवाहों में इसे अधम कहा है। महाभारतकार ने इस प्रकार के विवाह को अप्रशस्त मानकर इसका सर्वथा निषेध किया है—''पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यो' कथंचन''। अनुशासन पर्व में उल्लिखित पंचविध विवाहों में भी इसका उल्लेख किया गया है। किन्तु निश्चयपूर्व यह नहीं कहा जा सकता कि पैशाच प्रकृति के विवाह समाज में प्रचलित थे। महाभारत में इसका कोई उदाहरण भी उपलब्ध नहीं है।

अनुलोम व प्रतिलोम विवाह

वैदिक काल से ही भारतीय परम्परा में सवर्ण विवाह वर्तमान काल की भांति श्रेष्ठ समझे जाते रहे हैं। असवर्ण विवाह से विवाह के दो प्रमुख वर्ग हो गये अनुलोम व प्रतिलोम। विवाह के लिए निम्नतर वर्णों की कन्याओं का वरण अनुलोम है और निम्न वर्ण वालों का अपने उच्चतर वर्णों की कन्याओं का ग्रहण प्रतिलोम विवाह है।

महाभारत के आदि पर्व में पाराशर सत्यवती के अनुलोम विवाह का प्रसंग आता है। वनपर्व में अगत्स्य और लोपामुद्रा, ऋष्यश्र ंग और शांता, ऋचीक और गाधिकन्या, जमदग्नि व रेणुका तथा च्यवन और सुकन्या का विवाह मात्र द्विजातियों में अनुलोम विवाह की पुष्टि करता है। किन्तु शांतिपर्व के एक मध्यदेशीय ब्राह्मण गौतम का एक शूद्रा से विवाह का उल्लेख है जो पहले भी किसी दूसरे के साथ विवाह संसर्ग स्थापित कर चुकी थी। आदि पर्व में भी एक ब्राह्मण द्वारा निषाद पत्नी के ग्रहण का विवरण प्राप्त होता है। महाभारतकाल में शूद्रा को ग्रहण करने वाला द्विज सामाजिक निंदा व विगर्हणा का पात्र समझा जाता था।

परिवार

महाकाव्य-काल तक परिवार जैसी सामाजिक संस्था के प्रतिमान स्थिर हो चुके थे। संयुक्त पारिवारिक सत्ता में ग हस्वामी का प्राधान्य स्थापित हो चुका था। महाभारतकालीन पित सत्तात्मक परिवार में परिवार के सभी सदस्य ग हस्वामी की सर्वोच्च सत्ता का आदर करते थे। परिवार की

सच्ची उन्नति के सोपानों पर पर्याप्त विचार-मन्थन हो चुका था। उद्योग-पर्व (प्रजागर पर्व) में ध तराष्ट्र विदुर से कहते हैं— मैंने सुना है कि जो धर्म और अर्थ में बढ़े-चढ़े हैं, जो बहुत पढ़े-लिखे हैं वे भी महाकुल की प्रशंसा करते हैं। हे विदुर मैं जानना चाहता हूं कि महाकुल कैसे बनते हैं? इस पर महाकुल की विशेषताएं बताते हुए विदुर कहते हैं— तप, दम, ब्रह्म-ज्ञान, या, सदा अन्नदान, शुभविवाह और सम्यक् आचार-इन सात गुणों से साधारण परिवार भी महाकुल बन जाते हैं। जिन कुलों में सदाचार का पालन होता है वे अल्पधन होने पर भी महाकुलों में गिने जाते हैं—

कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः।

परिवार के प्रमुख घटक हैं- पति, पत्नी और सन्तान। अन्य सम्बन्धियों को भी सम्मिलित कर लेने से परिवार एक संयुक्त इकाई बन जाती है। ब हदारण्यक उपनिषद् द्वारा परिवार में पति-पत्नी के मनोवैज्ञानिक ऐक्य का बहुत सुन्दर निरूपण किया गया है। पुरुष मूलतः एक था। जब उसे एकाकी जीवन निरानन्द लगा तब उसने द्वितीय की कामना करते हुए स्वयं को दो भागों में विभक्त किया। ये दोनों पति-पत्नी बन गये। बिछुड़ने पर उसी प्रकार है जिस प्रकार एक सीपी के दो हिस्से किन्तु मिल कर वे एक पूर्ण इकाई हैं।

महाभारत में भी इसी प्रकार का भाव प्रकट करते हुए कहा गया है कि पत्नी, पति की अर्धांगिनी, सर्वश्रेष्ठ मित्र, धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्ष का साधन है। क्रोधावेग में पत्नी को कुछ न कहना चाहिए क्योंकि आनन्द, साम जस्य और धर्म सभी पत्नी पर निर्भर हैं।

महाभारतकार ने पारिवारिक ऐक्य के ऊपर विशेष बल दिया है। ''अन्यैः साकं विरोधे तु वयं पंचोत्तरं शतम्'' यह उसका आदर्श है। घोष-यात्रा प्रसंग में युधिष्ठिर भीम को समझाते हुए कहते हैं कि भाई-बन्धुओं में मतभेद होता है, कभी परस्पर कलह भी होता है, किन्तु इससे एक-दूसरे के प्रति उनके कर्त्तव्य नष्ट नहीं होते-

भवन्तिभेदा ज्ञातीनां कलहाश्च व कोदर।

प्रसक्तानि च वैराणि ज्ञातिधर्मो न नश्यति।।

पारस्परिक कलह को टालने के लिए यह कहा है कि माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री पत्नी आदि किसी से भी विवाद नहीं करना चाहिए-

माता पित्रभ्याम् जामीभिः भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।

दुहित्र्या दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्।।

पित सत्तात्मक परिवार में परिवार के भरण-पोषण तथा रक्षण का दायित्व ग हपति पर होता था। महाभारत में चिरकारी ने पिता की महिमा का सुन्दर वर्णन किया है— ''पिता अपने शील, चरित्र, गोत्र और कुल की रक्षा के लिए अपने आपको पत्नी में धारण करता है, उसी से सन्तान उत्पन्न होती है। जात कर्म एवं उपाकर्म के समय पिता जो कुछ कहता है, पिता का गौरव निश्चय करने मे वह पर्याप्त पुष्ट प्रमाण है। पोषण एवं शिक्षण देने वाला पहला गुरु (पिता) ही परम धर्म है। पिता जैसी आज्ञा दे, वही धर्म है, यह बात वेदों में भली प्रकार निश्चित है। पिता के लिए पुत्र प्रीति मात्र है, किन्तु पुत्र के लिए पिता सब कुछ है। शरीर आदि जो कुछ देय पदार्थ है, उन्हें केवल पिता ही पुत्र को प्रदान करता हे। अतः पिता के वचन का पालन करना चाहिए। जो पिता के वचन का पालन करते हैं, उनके पाप धुल जाते हैं। पिता ही धर्म है, पिता ही स्वर्ग है, पिता परम तप है, पिता के प्रसन्न होने पर सब देवता प्रसन्न होते हैं।'' परिवार में पिता को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था।

महाभारतकाल में पुत्री की अपेक्षा पुत्र की आकांक्षा अधिक की जाती थी। कहा गया है कि पुत्र अपना आत्मा है, पत्नी मित्र है, किन्तु पुत्री निश्चय ही संकट है। वैदिक युग में भी हमें इस प्रकार के संकेत मिलते हैं। इनका स्पष्ट कारण यह प्रतीत होता है कि आर्यों के लिए युद्धादि में पुत्री की अपेक्षा पुत्र का अधिक उपयोग होता था। जो पुत्र इस लोक में दुर्गम संकट से पार लगाये अथवा

म त्यु के पश्चात् परलोक में उद्धार करे-सब प्रकार से पिता को तार दे, उसे ही विद्वानों ने वास्तव में पुत्र कहा है–

इह वा तारयेद्दुर्गादुत वा प्रेत्य तारयेत्।

सर्वथा तारयेत्पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।।

कुटुम्ब में शान्ति एवं सौख्य स्थापित करने का पूरा प्रयत्न किया जाता था। स्त्रियां घर की लक्ष्मी मानी जाती थीं और विशेष रूप से रक्षणीय भी। उन्हीं में रति, प्रीति तथा धर्म निहित है, अतः उनसे कटुवचन अथवा अप्रिय भाषण न करना चाहिए। उसका पूजन-लालन करना चाहिए–''पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप।'' नारी को भी इस प्रकार का आदर प्राप्त करने के लिए अपने शील तथा सद्गुणों से घर की सौख्य व द्धि का उत्तरदायित्व अपनाना पड़ता था। सुस्वभाव, सुवचन, वाली अनन्य स्वामिभक्त तथा सुमुखी नारियां परिवार में यथेष्ट आदर पाती थी।

माता-पिता अपकारी होने पर भी अवध्य माने जाते थे। गौतम ऋषि के पुत्र चिरकारी ने उसके पिता का वेष धारण कर जाने वाले इन्द्र को आत्मदान करने वाली अपनी माता अहिल्या के वध के लिए पिता से आदेश पाने पर माता की गरिमा का सुन्दर वर्णन किया है–''माता जैसी शीतल छाया, आश्रय-स्थान, रक्षा-स्थान या प्रिय वस्तु नहीं है। वह सन्तान को जन्म देने से जननी, उसके अंगो के पुष्टिवर्धन से अम्बा और वीर सन्तानों को पैदा करने से वीरसू है। माता ही सब पीड़ितों का सुख है। उसके रहने पर सब सनाथ और न रहने पर अनाथ हो जाते हैं। माता से विमुक्त होने पर पुरुष व द्ध और दुःखी होता है और उसके लिए जगत् शून्य हो जाता है।'' वस्तुतः मात वध महापातकों में गिना जाता था। भारतीय साहित्य में इसका केवल एक द ष्टान्त परशुराम द्वारा रेणुका का वध है। ''नास्ति मात समो गुरुः'' यह महाभारत का आदर्श है।

पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों पर परिवार का वातावरण निर्भर था। जिस कुल में पति-पत्नी एक-दूसरे से पूर्ण सन्तुष्ट हों तथा उनके सम्बन्ध सौख्यपूर्ण हों उस कुल में सब कल्याण ही दिखाई देते हैं।

यो भर्ता वासितातुष्टो भर्तुस्तुष्टा च वासिता।

यस्मिन्नेव कुले सर्वं कल्याणं तत्र वर्तते।।

ऐसे ही परिवार में भाई-बहन परस्पर प्रेमपूर्वक रहते थे, यथा-गान्धारी और शकुनि, द्रौपदी और उसके भाई-बहिनों के विवाह में भाईयों का महत्त्वपूर्ण योग होता था। शकुनि तथा ध ष्टद्युम्न ने अपनी बहिनों के विवाह में प्रमुख रूप से कार्यभार उठाया था। परिवार के शान्ति तथा सौख्यपूर्ण वातावरण में नारी की रक्षा वयक्रम से पिता, पति तथा पुत्र द्वारा की जाती थी।

संस्कार

महाभारत में यत्र-तत्र विविध संस्कारों का नामोल्लेख मात्र है। अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन अवश्य ही हमें विस्तारपूर्वक मिलता है। विविध संस्कारों के नामोल्लेख तथा संस्कार-विषयक विभिन्न निबन्धों में महाभारत के उद्धरण देखकर यह सहज अनुमान है कि महाभारत काल तक षोडश संस्कार वाला विधान लोकप्रिय हो चुका था। द्रुपद ने जब अपनी पुत्री शिखण्डिनी को पुत्र रूप में घोषित किया तब पुत्र के समान इसके समस्त पुत्रोचित संस्कार करवाये। पांडवों के वेदोक्त संस्कारों का भी उल्लेख मिलता है। इन कथनों से यह भी आभासित होता है कि कन्या तथा पुत्र के संस्कारों में शास्त्रोक्त सीमारेखा खींची जा चुकी थी। मनु ने कन्याओं के संस्कारों को बिना वैदिक मन्त्रों के ही करवाने का विधान किया है। महाभारत में एकाधिक बार 'नैव यज्ञः स्त्रियः'' यह कथन भी इस विधान की पुष्टि करता है। महाभारत में कन्या के उपनयन का कोई निर्देश नहीं है, जबकि सुलभा जैसे ब्रह्मवादिनीयों का उल्लेख महाभारत में विद्यमान है।

महाभारत में जातकर्म तथा नामकरण संस्कारों का नामोल्लेख हुआ है। पिता के महत्त्व को ज्ञापित

करते हुए चिरकारी जातकर्म तथा उपाकर्म का उल्लेख करता है। सीमन्तिनी शब्द से सीमन्तोन्नयन संस्कार का बोध होता है। पुंसवन संस्कार का भी नामोल्लेख मिलता है।

यज्ञ

महाभारत के भीष्मपर्व में यज्ञ का तात्पर्य कर्म से है। महाभारत काल में यज्ञ और कर्म दोनों एक दूसरे के पर्याय हो गये थे— 'यज्ञः कर्मसमुद्भव'ः। यज्ञ की यह परिभाषा महाभारतकार ने विशिष्ट उद्देश्य से की है। जनमानस को क्लिष्ट कर्मकाण्डीय विधानों से मुक्त कर उन्हें निष्काम कर्मयोग का रहस्य समझाना यहां प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है। डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में 'कर्मयोग का सच्चा अर्थ बताने के लिए यह आवश्यक था कि स्वर्गादि की अनेक कामनाओं से यज्ञ करने के पक्षपाती एवं कर्मफल को ही सब कुछ मानने के द ष्टिकोण से लोगों को मुक्त किया जाए। गीता में वैदिक यज्ञों के रूप में कर्मकाण्ड का विरोध करके यज्ञ, दान, तप आदि की सात्विकता पर बल दिया गया है। परलोक में स्वर्गप्राप्ति के आदर्श के बदले इसी जीवन में ब्राम्हनी स्थिति (समत्वबुद्धि) की प्राप्ति का आदर्श सामने रखा गया है। इसे हम महाभारत में औपनिषदिक प्रभाव की परिणति कह सकते हैं।

महाभारत में ही अन्यत्र विविध यज्ञों का घटाटोप वर्णन अत्यन्त उत्साह के साथ किया गया है। इन वर्णनों तथा विधानों में हमें ब्राह्मणवाद का सशक्त प्रभाव द ष्टिगोचर होता है। उपर्युक्त द ष्टिकोण इसी ब्राह्मणवाद (वेदवाद) का अनुवर्ती परिणाम है, जो कि वेदवाद के प्रति क्रान्ति का उद्घोष करता है। वेदवाद से प्रभावित अनेक फलश्रुतियां महाभारत में द ष्टिगोचर होती हैं। एक स्थान पर कहा गया है कि स्वर्गकामी को ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए— ऐसा विधान शास्त्रों में मिलता है।

महाभारत-काल में बहुधनापेक्षी तथा विविध आडम्बरों से युक्त यज्ञों से जनता ऊब चुकी थी। अतः धार्मिक संस्कार सम्बन्धी मान्यताओं में क्रमशः परिवर्तन लक्षित होता है। वस्तुतः ग्रन्थकार वेदों में निर्दिष्ट एवं अनेकानेक भाष्यग्रन्थों द्वारा पुष्ट यज्ञ-परम्परा का बहिष्कार अथवा उन यज्ञों के ढांचे में मौलिक परिवर्तन नहीं कर सकते थे। अतः ऐसे अनेक सरल कृत्यों का विधान किया गया और उन्हें विविध यज्ञों के समान ही फलप्रद बताया गया ताकि वे राजाओं तथा राजपुत्रों तक ही सीमित न होकर दरिद्रवर्गों में भी प्रचलित हों—

यो दरिद्रैरपि शक्यः विधिः प्राप्तुं सदा भवेत्।

तुल्यो यज्ञफलैरेतैस्तन्मे ब्रूहि पितामह।।

इसी कारण विविध व्रतों का विधान किया गया, जिनका फल यज्ञ-फल जैसा ही प्रतिपादित किया गया। यह भी कहा गया कि अनेक यज्ञों के करने का भी जो फल नहीं है, वह अनशन से प्राप्त होता है। यज्ञ द्रव्यसाध्य होते हैं, किन्तु धनहीन व्यक्ति को यज्ञ का फल उपवास से प्राप्त होता है।

अश्वमेधादि यज्ञ इतने व्ययसाध्य होते थे कि उसे साधारण राजा भी नहीं कर पाते थे। महाभारत में कतिपय प्रख्यात राजाओं द्वारा सम्पादित विविध यज्ञों का वर्णन मिलता है। युधिष्ठर का राजसूय यज्ञ सभा-पर्व में विस्तारपूर्वक वर्णित है। इसके अतिरिक्त युधिष्ठर ने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। अश्वमेधिक पर्व में युधिष्ठर के इसी यज्ञ के विविध सोपानों का विशद वर्णन किया गया है। पौरव, शिवि, दिलीप, अम्बरीष, शशिबिन्दु, भरत, प थु, दक्ष उपरिचर जनमेजय आदि के विविध यज्ञ उल्लेख्य हैं।

महाभारतकालीन समाज में बड़े-बड़े यज्ञों का प्रचलन तो न्यून होने लगा था किन्तु ग हस्थियों के लिए पंच महायज्ञ आवश्यक कर्म स्वीकार किये गये हैं जिनका संक्षिप्त वर्ण ग हाश्रम प्रकरण में कर दिया है।

श्राद्ध

पितरों को उद्देश्य करके श्रद्धापूर्वक किसी वस्तु का अथवा उनसे सम्बन्धित किसी द्रव्य का त्याग

श्राद्ध है। महाभारत में श्राद्ध-विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसी स्थान पर विभिन्न तिथियों में किये गए श्राद्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। विविध नक्षत्रों में श्राद्ध करके फलों का प थक्-प थक् वर्णन किया गया है, यथा—कृत्तिका नक्षत्र में करने से चिन्ता एवं रोग से मुक्ति, रोहिणी में श्राद्ध करने से पुत्र-प्राप्ति आदि।

श्राद्ध करने के लिए गया तीर्थ की यात्रा करने का विधान है, जहां कि लोक-विख्यात अक्षयवट विद्यमान है। गया में सम्पन्न श्राद्ध को महापुण्यप्रद माना गया है। यहां पितरों के प्रति जो भी श्राद्ध के रूप में अर्पित किया जाता है उसका कभी क्षय नहीं होता। शायद इसीलिए गया स्थित उस वट का नाम अक्षयवट पड़ा। महाभारत में तीरस्थ महानदी (गंगा) में स्नान करके देवताओं एवं पितरों का तर्पण करने का उपदेश दिया गया है। ऐसा करने से अविनाशी लोकों की प्राप्ति एवं कुलोद्धार होता है।

श्राद्ध के समय विद्वान् पुरुष को कुल, शील, अवस्था, रूप, विद्या और पूर्वजों के निवासस्थान आदि के द्वारा ब्राह्मण की परीक्षा करनी चाहिए। पंक्तिदूषक ब्राह्मणों को कराया गया भोजन नष्ट हो जाता है पंक्तिपावनों को खिलाया गया अन्न यथोचित फलदायक होता है। श्राद्ध में लाख मूर्ख ब्राह्मणों को भोजन कराने की अपेक्षा एक वेदवेत्ता को भोजन कराना श्रेष्ठ है।

महाभारत में श्राद्ध शब्द का प्रयोग अतिथि-सत्कार के लिए भी होता था। पौष्य उत्तर से कहते हैं कि 'आप गुणवान अतिथि हैं। मैं आपका श्राद्ध करूंगा। क्षणभर ठहरिए।

उत्तराधिकार

वैदिक-साहित्य में राजा के निर्वाचित होने के कतिपय प्रमाण मिलते हैं। किन्तु महाभारत में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उस युग में राजा निर्वाचित होता था। इसके विपरीत हमें 'पित पैतामहं राज्यम्' अथवा 'पैत क-राज्य' का उल्लेख महाभारत में बहुशः हुआ है जिससे यह सिद्ध होता है कि महाभारतकालीन समाज में राज्य का उत्तराधिकार वंशानुगत हो गया था। वंशानुगत उत्तराधिकार में ज्येष्ठ पुत्र राज पद का उत्तराधिकारी होता था।

ज्येष्ठ पुत्र के किसी कारण ये अयोग्य होने पर उसे राज्य के अधिकार से वंचित कर दिया जाता था और वयक्रम के अनुसार उस के अनुज को उत्तराधिकार दिया जाता था। ध तराष्ट्र विचीत्रवीर्य के ज्येष्ठ पुत्र थे, किन्तु जन्मान्ध होने के कारण उन्हें राज्य का अधिकार नहीं मिला और उनके अनुज पाण्डु को उत्तराधिकार प्राप्त हुआ।

उत्तराधिकार-विधान के सम्बन्ध में महाभारत यह भी ज्ञापित करता है कि यदि राज्य के उत्तराधिकारी के अल्प-वयस्क होने पर उसे वयस्क होने तक राज्य संभालने के लिए संरक्षक नियुक्त किये जाते थे। विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक बाल्यावस्था में होने के कारण भीष्म शासन-भार का संचालन सत्यवती के निर्देशन में किया करते थे। राज्यवंश में कोई उत्तराधिकारी न होने पर नियोग द्वारा भी पुत्र उत्पन्न कराके उसे राज्य सौंप दिया जाता था। विचित्रवीर्य की म त्यु के पश्चात् व्यास के नियोग से उनकी रानियों के तीन पुत्र हुए थे—ध तराष्ट्र, पाण्डु और विदुर। नियोग का प्रस्ताव भीष्म और सत्यवती का था। महाभारत स्त्री-राज्य का समर्थक नहीं है। फिर भी भारत-युद्ध जन्य विभीषिका देखकर व्यास ने युधिष्ठर से कहा था कि जिन राजाओं के पुत्र न हों उनकी कन्याओं को अभिषिक्त करो।

दण्ड व्यवस्था

महाभारतकालीन समाज में अपराधियों के लिए उचित दण्ड की व्यवस्था थी। उस काल में दण्ड-शक्ति का पर्याप्त विस्तार हो गया था। यहां तक कि त्रिवर्ग भी उसी से शासित होने लगा। महाभारतकाल में यह संशय दूर हो गया था कि राजा काल का कारण है अथवा काल राजा का कारण है। महाभारत में स्पष्टरूपेण राजा को ही काल का कारण माना गया। दूसरी और महाभारत

में दण्ड के दुष्प्रयोग की भर्त्सना भी की गई है। पक्षपात, स्वार्थ लोभ आदि दण्ड को दूषित कर देते हैं। दण्ड के दुष्प्रयोग से राजाओं के सर्वदा नाश होने की बात कही गई है।

इस युग-परिवर्तन की सूचना हमें पराशर और भीष्म के वचनों में मिलती है। पराशर कहते हैं कि ''धर्मप्रधान समाज में जहां कि लोग धर्म एवं न्यायपरायण होते हैं, आवश्यकता पड़ने पर धिग्दण्ड से कार्य चल जाता था। किन्तु कालान्तर में राजसिक एवं तामसिक व त्तियों के विकास के कारण लोगों की मनोव त्तियां भी प्रभावित हुई। प्रजा में दर्प, मान, क्रोध, लज्जा, मोह आदि का क्रमशः प्रादुर्भाव हुआ दर्प-मानादि से ग्रस्त होने के कारण लोगों की जीवन-द ष्टि ही बदल गई। समाज में एक प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। फलतः धिग्दण्ड निरर्थक सा हो गया। लोगों पर धिक्काकरने का कोई प्रभाव नहीं रहा। इस प्रकार समाज में अव्यवस्था से बचने के लिए दण्ड का शासन अनिवार्य हो गया।

स्त्रियों की दशा—

समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नही थी। उन्हें समाज में स्वतन्त्रता प्राप्त थी, फिर भी उनकी स्थिति ह्रासोन्मुख थी। पुत्री-जन्म पर प्रसन्नता व्यक्त नहीं की जाती थी। सती-प्रथा प्रचलित थी। नारियां पर्दा नहीं करती थीं।

अनीति का अवतरण—

महाभारत में दुर्योधन एक अन्यायी के रूप में मिलता है। उसे अनेक प्रकार से समझाया जाता है लेकिन अपने भाई पाण्डवों को हिस्सा नहीं देता है और छल कपट की रचना करके उन्हें सर्वथा नष्ट करने के लिए विचार करता रहता है। अतः महाभारत में अनीति पूर्ण व्यवस्था कायम थी।

धर्म का स्खलन—

महाभारत में धर्म का उदात्त रूप नहीं रह गया था। उस समय धर्म की अपेक्षा स्वार्थपरता का ही विस्तार हो गया था। दुर्योधन धर्म को त्यागकर अन्यायी बनते हुए धर्मपूर्वक पाण्डवों के अधिकार को नहीं देता। द्रोपदी का चीरहरण किए जाने पर सभी सभासद दुर्योधन के भय से मौन बैठे रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि महाभारत काल में धर्म की सामाजिक प्रतिष्ठा समाप्त हो चुकी थी।

अहंकार की चरमसीमा—

रामायण काल मे अंहकार भाव प्रतिपक्षी रावण में देखा जाता था जो अविवेक के कारण अन्धा बन चुका था। परन्तु महाभारत में दुर्योधन का अंह व द्धि को प्राप्त होकर सर्वविनाश हो जाने पर ही समाप्त होता है।

अशान्ति का साम्राज्य—

महाभारत काल में चारों और अशान्ति का वातावरण फैला हुआ है। दुर्योधन यदि राज्यधिकार बनाए रखने के लिए अशान्त होकर पाण्डवों को बहुविध यातनाएं देता है तो पाण्डव चुपचाप उस अन्याय को सहते हुए अशान्त हैं।

अतः स्पष्ट होता है कि महाभारत कालीन समाज में अस्थिरता, लोगों में भौतिक पदार्थो को प्राप्त करने की लालसा, अंह को प्रदर्शित करने की उत्कण्ठा, प्रेमहीनता की भावना आ चुकी थी। अतः पूर्ववत् समाज सुगठित नही रह गया था। इस प्रकार महाभारत का समाज निकृष्ट स्थिति में विद्यमान था।

--- o ---